
जीवन
बिन्दु
आशा यादव

जीवन बिन्दु

वैश्वीकरण और मशीनीकरण के युग में आत्मकेन्द्रित सोच की अंधी दौड़ से आज समूचा विश्व आक्रान्त है। संवेदना के स्रोत सूख चुके हैं, पारिवारिक रिश्ते यान्त्रिक हो गये हैं, ऐसे परिवेश में साहित्य, कला और संस्कृति हाशिये पर आ गये हैं। इसका सर्वाधिक प्रभाव कविता पर पड़ा है इसलिये कविता पर बहस करना आवश्यक है क्योंकि साहित्य ही मानवीय संवेदना और मानव-मूल्यों का संरक्षण करता है।

मूल्य : १००/-

9.4

आदरणीया कल्पना दीदी को
सादर समर्पित

आशा यादव
3/10/09

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

जीवन बिन्दु

आशा यादव

प्रकाशक
रुपप्रभा प्रकाशन
गणेशगंज, विश्वेश्वरगंज, वाराणसी

प्रकाशक
रुपप्रभा प्रकाशन
विश्वेश्वरगंज, वाराणसी

प्रथम संस्करण-२००९

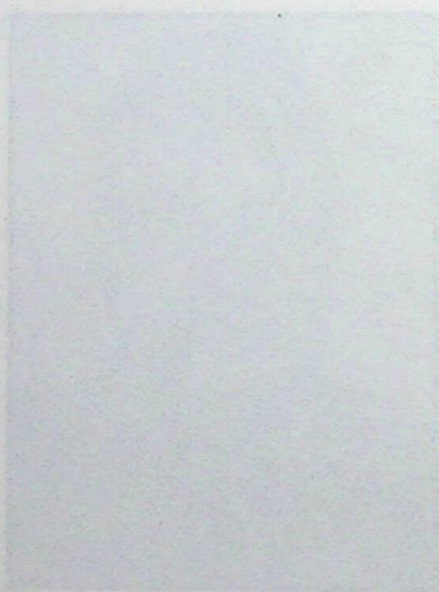
मूल्य- १००/- रूपये

मुद्रक :
मित्तल आफसेट, सुन्दरपुर, वाराणसी
फोन : 0542-2454442

समर्पण



पूज्य बाबूजी को
सश्रद्ध नमन के साथ
अर्पित



अनुक्रम

जीवन बिन्दु को पढ़ते हुए

भूमण्डलीकरण और उपभोक्ता-केन्द्रित बाजारवाद के इस जटिल दौर में, घर-परिवार और समाज से मनुष्य के रिश्ते उपभोक्ता सम्बन्धों पर आधारित होते जा रहे हैं और मानवीय संवेदना के स्रोतों का सूखते जाना और पारिवारिक रिश्तों का यांत्रिक होते जाना सचमुच हमारे लिए चिन्ता का विषय है। भूमण्डलीकरण, निजीकरण और आर्थिक उदारीकरण के त्रिक् ने हाशिए के समाज और साहित्यक-सांस्कृतिक क्षेत्रों को ही सबसे ज्यादा क्षत-विक्षत किया है। इस प्रक्रिया ने साहित्य और कला-संस्कृति को तो एकदम हाशिए पर डाल दिया है, कविता को तो और भी ज्यादा। इसलिए बाजारवाद के इस अन्धे दौर में कविता पर बहस करना जरुरी है क्यों कि साहित्य ही है जो मानवीय संवेदना और हमारे जीवन-मूल्यों को संरक्षित कर सकता है।

यदि बकौल धूमिल 'कविता / भाषा में आदमी होने की तमीज है' तो कविता को बचाना आदमी की आदमियत को बचाना है। ऐसा इसलिए भी जरुरी है कि आज आदमी का सारा वजूद उसकी जाति और धर्म तक केन्द्रित होता जा रहा है। आदमी की सही पहचान का इतना घोर संकट शायद ही कभी रहा हो जितना आज के दौर में दिखायी दे रहा है। मुझे खुशी है कि आशा यादव के कविता-संग्रह 'जीवन बिन्दु' की अधिकांश कविताएँ इसी आदमियत को बचाने की चिन्ता से चिन्तित कविताएँ हैं। संग्रह की पहली ही कविता 'आदमी बन' विशेष महत्वपूर्ण है जो कई कोणों से हमारा ध्यान आकृष्ट करती है। कविता के आरम्भ में कबीर, धूमिल और नीरज को याद करना वस्तुत: अपने इस कविता-संग्रह की जमीनी पृष्ठभूमि को याद करना है क्योंकि अनेक कविताओं में कबीर का तीखा तेवर और धूमिल का युवाआक्रोश मौजूद है तो 'बसंत श्री', 'तुम और मैं', 'मुझे जाने दो' आदि कविताओं में नीरज जैसी गीतात्मक संवेदना के स्वर भी सुनायी पड़ते हैं।

मूलत: मानवीय संवेदना में रची-बसी ये कविताएँ आज के दौर में क्षरणशील जीवन-मूल्यों के संरक्षण और यांत्रिक हो चले पारिवारिक रिश्तों को सहज बनाने के लिए संघर्ष करती घर-गृहस्थी की कविताएँ है जिनका दायरा बाजारवाद तक फैला हुआ है। मनुष्यता की सही पहचान करानेवाली कविता 'परिभाषा प्रस्तुत करती है जिसमें मनुष्य की जिजीविषा शक्ति को रेखांकित किया गया है- 'जाना होगा / जिन्दगी की परिभाषा ढूँढ़ने / चट्टानों की छाती

चीर कर उगे / पौधों पर झूमते फूलों की भाँति / जिजीविषा वालों के पास। पूँजीवादी समाज में लूट-खसोट और छीना-झपटी में लिप्त आदमी की स्थिति कभी-कभी जानवर से भी बदतर हो जाती है। 'कुत्ता और आदमी' शीर्षक कविता मनष्य की इसी प्रवृत्ति पर चोट करती है- 'कुत्ता कितना भी गिर जाय / आदमी नहीं हो सकता' / इस कविता में 'आदमी की गाली' को 'कुत्ते की गाली' से ज्यादा भद्दी बताते समय कवयित्री का ध्यान इन स्त्री-प्रश्नों की ओर भी जाना चाहिए कि पुरुष-वर्चस्व वाले इस पितृ सत्तात्मक समाज में क्यों कुत्ते को वफादार और चरित्र के नाम पर कुतिया को गाली का पयार्य मान लिया जाता है? क्या इसलिए नहीं कि वह स्त्री-वर्ग में आती है? इस सन्दर्भ में स्त्री-अस्मिता का सवाल उठाती सुशीला टांक-भौंरे की 'गाली' शीर्षक कविता बड़ी शिद्दत से याद आ रही है जिसमें कवयित्री स्त्री की समता व स्वतंत्रता का प्रश्न खड़ा करती है- 'जब कुत्ता और कुतिया / एक दूसरे के पूरक हैं / तब / कुत्ते को वफादार / कहने के साथ ही / चरित्र के नाम पर / 'कुतिया' गाली क्यों दी जाती है? / पुरुष-प्रधान समाज में / चाहे समर्पण हो / या विद्रोह / दुर्गुण का दोष नारी पर है।'

स्त्री-अस्मिता के इन प्रश्नों की ओर तो नहीं लेकिन आशा यादव का नारी-मन 'चटाई' शीर्षक कविता में मध्यवर्गीय नारी-जीवन की विडम्बनाओं को परत-दर-परत उकेरने में अवश्य सफल हुआ है। वह पितृ-सत्ता और मातृ-सत्ता दोनों के उत्पीड़न की शिकार है, इसलिए स्वाधीनता का प्रश्न उसके लिए कोई मायने नहीं रखता। वह घर-परिवार के लिए साल-दर-साल कटने और बँटने तथा तिल-तिल कर मरने के लिए अभिषप्त है- 'मोड़ कर रखी नीचे / जब जहाँ चाही बिछा ली / लपेट फिर गोल कर दी खड़ी / कोने में दीवार के सहारे पड़ी / साल-साल टुकड़े-टुकड़े कटी / जैसे तैसे जहाँ तहाँ बटी / होती छँटाई / नारी इन्सानं नहीं चटाई /' लेकिन आशा यादव की इस 'चटाई' में 'जगहँसायी' की खोल से बाहर निकलने और प्रतिरोध के लिए 'मुँह खोलने' का साहस नहीं है। ऐसी समझौता परस्त स्त्रियाँ ही नारी-मुक्ति आन्दोलन के प्रति सशंकित और उदासीन रहती हैं। अपनी इसी नारी-दृष्टि के चलते कवयित्री 'दो वरदान' शीर्षक कविता में सीता की अग्नि-परीक्षा के लिए कटघरे में खड़े मर्यादा पुरुषोत्तम राम को आरोप-मुक्त कर सारा दोष धोबी के मत्थे मढ़ देती है।

'मुझे बचा ले' जैसी कुछ ऐसी भी कविताएँ हैं जो भाव-संवेदना की

जटिलता के कारण पूरी तरह खुल नहीं पातीं। कहीं-कहीं भाषा में अन्तर्निहित लय और गति अवरुद्ध सी प्रतीत होती है जिससे लगता है कि भाषा को अभी और माँजने की ज़रुरत है। फिर भी सब मिला कर देखा जाय तो 'जीवन बिन्दु' की कविताओं को पढ़ते हुए सुखद आश्चर्य होता है कि क्या यह कवयित्री आशा यादव का पहला काव्य-संग्रह है? इसमें संग्रहीत 'आदमी बन', 'आखिर क्यों', 'परिभाषा आदमी की', 'कुत्ता और आदमी', 'ढेर रेत की', 'चटाई', 'सभ्यता चुप रहती', 'वजूद', 'अनुत्तरित प्रश्न', 'रिसते दर्द' आदि कविताओं में परिपक्व भाव-बोध और सर्जनात्मक काव्य-भाषा का सामंजस्य देखने को मिलता है।

लेकिन इस संग्रह की सबसे छोटी किन्तु सबसे खूबसूरत कविता 'कोठियाँ' जो एक खूबसूरत कलाकृति की तरह सहज ही ध्यान आकर्षित कर लेती है। सच पूछा जाय जो इन कविताओं के बीच एक जगमगाते नगीने की तरह वह इन कविताओं से बहुत आगे की कविता है जिसे 'वह तोड़ती पत्थर' जैसी कविताओं के साथ मिलाकर पढ़ा जा सकता है। भाषा की कसावट और अभिव्यजंना की सार्थकता के कारण वह पूरी तरह एक चुस्त कविता है, अपनी बनावट में भी और अपनी बुनावट में भी। मुझे लगता है कि लम्बी कविताओं की अपेक्षा छोटी कविताओं को आशा यादव ज्यादा अच्छी तरह साध पाती हैं। इसलिए उन्हें छोटी कविताओं पर ज्यादा ध्यान देना चाहिए। मैं कवयित्री के रुप में अपनी पहचान बनाने के लिए आशा यादव को बधाई देता हूँ और भविष्य में यह पहचान सतत पोख्ता बनती जाय, इसके लिए मंगलकामना करता हूँ।

पूर्व प्रो. एवं अध्यक्ष
हिन्दी विभाग, बी.एच.यू.
वाराणसी- 221005
संपर्क - 09415989793

चौथीराम यादव

अपनी बात

आज हमारे समाज से संवेदना के मलयानिल का प्रवाह अवरुद्ध हो गया है। अहिंसा, स्वदेश, धर्म, संस्कृति, मानवता जैसे शब्द बेमानी होकर केवल भाषणों व लेखों के शोभावर्धक तत्त्व की परिधि में सिमट कर रह गये हैं। इनके नाम पर जो नग्न ताण्डव हो रहा है उससे समाज पर होने वाले कुठाराघात से अपसंस्कृति का कई गुना घातक व दूरगामी दुष्परिणाम दिखायी दे रहा है- जो समाज को विध्वंस की ओर धकेल रहा है। समाजवाद, धार्मिकता, इंसानियत और राष्ट्रीयता की भावना आज आकाश कुसुम सी लगने लगी है। फलस्वरुप आतंकवाद, जातिवाद, क्षेत्रवाद, सम्प्रदायवाद से हृदय में चीख-चीत्कार व रुधिर की भाषा से घुटन की पीड़ा तीव्रतर होती जा रही है। ऐसे परिवेश में जब-जब मन पर आघात लगा, परिवार व समाज से पीड़ा मिली, लोगों ने भीतरघात किया तब-तब हृदय व्यग्र हुआ तथा अभिव्यक्ति के लिये उद्वेलित हो उठा।

मेरी यह प्रथम काव्य कृति 'जीवन बिन्दु' नारी के अपने ही हृदय के उस अन्धेरे कोने का आर्तनाद है जिसे सुनकर श्वास की गति अवरुद्ध हो जाती है, दम घुटने लगता है। इतना ही नहीं इस काव्य-संग्रह में, जीवन में विविध झंझावतों का सामना करते हुए 'मृदु मंद मंद मंथर-मंथर' पंत जी की तरिणी की तरह आगे बढ़ती जुझारु नारी का समाज में अपने को स्थापित करने का अन्तर्संघर्ष भी प्रतिबिंबित हुआ है।

निःसंदेह हमारे समाज में व्याप्त बुराइयाँ, स्वार्थलिप्सा आज इतने वीभत्स रुप में चुनौती देते हुए हमें मुँह चिढ़ा रही हैं जैसे कि हम उनका कुछ बिगाड़ ही नहीं सकते उन्हें यह पूर्ण विश्वास हो गया है कि हम विवश हैं। उनका सोचना उनके साथ है। मैंने उनकी इस चुनौती को बड़ी शिद्दत के साथ स्वीकार किया है। उन विध्वंसक काँटों के गर्व को चूरकर समाज को गुणात्मकता व आदमियत से सम्पन्न बनाकर सुसंस्कृत समाज निर्माण के स्वप्न को मैं साकार करना चाहती हूँ।

मेरी इस कृति को साकार रुप देने में प्रातः स्मरणीय पिता स्वर्गीय श्री रुपनारायण यादव का परोक्ष आशीष एवं माता श्रीमती प्रभा यादव का आशीर्वाद ही प्रतिफलित हुआ है। मेरे पति श्री विनोद कुमार यादव की सत्प्रेरणा से ही यह काव्य-संग्रह प्रकाशित हो पाया है। मेरी प्रिय सखी डॉ. सविता

भारद्वाज (रीडर दर्शनशास्त्र विभाग के. एन. पी. जी. कॉलेज, ज्ञानपुर) के द्वारा पग-पग पर दिशा निर्देश एवं सम्बल प्रदान करने के कारण ही यह काव्य-संग्रह आपके सम्मुख आ सका है। मैं इनके प्रति हृदय से आभार व्यक्त करती हूँ।

हिन्दी के ख्यातिलब्ध साहित्यकार, प्रखर वक्ता एवं कुशल समीक्षक मेरे श्रद्धेय गुरुवर प्रो. श्री चौथीराम यादव (पूर्व अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) के द्वारा लिखी गयी भूमिका ने मुझे अपने ही काव्य-संग्रह को भिन्न-भिन्न कोणों से देखने की नूतन दृष्टि प्रदान की है। उनके आशीर्वाद के पीयूष-प्रवाह ने मेरी कविताओं में प्राण का संचार किया तथा अपने स्नेहिल सत्परामर्श द्वारा मुझे भविष्य के लिये दिशा निर्देश दिया। उनका स्नेह ही मेरा पाथेय बना। ऐसे महान साहित्यकार के श्री चरणों में सादर नमन करती हूँ।

लोक-साहित्य एवं भोजपुरी भाषा के प्रकाण्ड विद्वान, सुविख्यात कवि एवं कुशल आलोचक आदरणीय पण्डित हरिराम द्विवेदी के चरणों में प्रणाम निवेदित करती हूँ। इन्होंने मेरी कृति के लिये शुभाशंसा लिखकर मेरी कविता को जीवन्तता प्रदान की है।

अपनी अग्रजा डा. शान्ता चटर्जी (रीडर संस्कृत विभाग, वसन्त कन्या महाविद्यालय) के प्रति मैं हृदय से आभारी हूँ जिन्होंने इस काव्य-संग्रह के प्रति अपना विशिष्ट मन्तव्य देकर मेरा उत्साह वर्धन किया है।

श्रद्धेया दीदी डॉ. अनुराधा बैनर्जी (अध्यक्ष अंग्रेजी विभाग वसन्त कन्या महाविद्यालय) के प्रति विशेष रुप से कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ क्योंकि उन्हीं की प्रेरणा एवं स्नेहिल आशीष से मैं काव्य-लेखन की ओर अग्रसर हो सकी।

आदरणीया डॉ. कृष्णा गोस्वामी (अध्यक्ष प्र. भा. इति. एवं पुरातत्त्व विभाग, वसन्त कन्या महाविद्यालय) के द्वारा दिये गये अमूल्य सुझावों के लिये मैं उनके प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करती हूँ।

स्वर्गीय बाबू जी श्री रमाशंकर यादव को हृदय से नमन करती हूँ जिनके आशीर्वचनों ने ही मुझे इस कार्य हेतु उत्साहित किया। उन्हीं की प्रेरणा से इस पुस्तक को आपके समक्ष प्रस्तुत करने का साहस जुटा पायी हूँ।

अन्त में धन्यवाद ज्ञापित करती हूँ 'मित्तल आफसेट' महमूरगंज, वाराणसी

के प्रति, जिन्होंने समय पर पुस्तक को टंकित कर अपना सक्रिय सहयोग दिया।

'जीवन-बिन्दु' काव्य-संग्रह के रुप में अपना प्रथम अकिंचन प्रयास मैं सुधी पाठकों के समक्ष रख रही हूँ। पुस्तक में होने वाली त्रुटियों के लिये सहृदय पाठकगण मुझे यथोचित दिशा निर्देश देकर मेरी लेखनी को प्रशस्त बनाने में अपना बहुमूल्य योगदान देकर मेरा उत्साहवर्धन करेंगे।

इसी आशा और विश्वास के साथ-

आशा यादव

शुभाशंसा

विराट विश्व-सागर के खारे/मीठे जल में गहरे पैठ, अनुभूतियों की अञ्जुरी में लबालब भरकर, आशाजी ने जिन 'जीवन बिन्दुओं' को उदारमना जनमानस हेतु प्रस्तुत किया है, उन्हीं की तलाश में आज विश्व-मनस् भटक रहा है। हलकान हो रहा है। जनमानस हेतु कहने का मेरा विशिष्ट अभिप्राय है, क्योंकि आशा जी की कविताएँ समाज की सबसे निचली इकाई से लेकर तथाकथित 'इलीट क्लास' तक को अपने चिन्तन का विषय बिन्दु मानती हैं। यह भारतीय मनीषा को पुलकित करने वाली सर्जना हैं। आत्मकेन्द्रित सोच की अंधी दौड़ से आज समूचा विश्व आक्रान्त है। उसे स्वहित के अतिरिक्त 'अन्य कुछ' कम दिखाई पड़ता है। वैश्वीकरण के इस दौर में 'त्येन त्यक्तेन भुञ्जीथा'- जैसी पूत सोच रखने वाले हमारे देश का मानस भी इससे अछूता नहीं है। निठारी और नैना साहनी जैसे काण्ड इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। भौतिक संसाधनों का जखीरा इकट्ठा करते-करते हम मशीन सरीखे हो गए हैं। ऐसी स्थिति में संवेदनशीलता का प्रश्न ही कहाँ पैदा होता है।

आज आदमी की परिभाषा उसकी आदमीयत से नहीं गढ़ी जाती, वरन् वह कितना संसाधन सम्पन्न है इस बात से होती है। यह दर्द आशा जी को गहरे तक सालता है। इसी बात की अभिव्यक्ति उनकी 'आदमी बन' शीर्षक कविता में हुयी है। उनके अन्तस् को यह दर्द मथता है कि-

क्यों हो जाती हैं, शून्य संवेदनाएँ
बँट जाता है हृदय
मिट जाती है कोमलता
कर्कश हो जाते हैं भाव
खड़ी हो जाती हैं दीवारें पत्थर की
कोमल हृदयों में। (आखिर क्यों)

सम्पूर्ण वसुधा को अपना कुटुम्ब मानने वाले हृदय इतने संकीर्ण और अकिञ्चन् हो गए हैं कि उन्होंने अपने अन्दर पत्थर की दीवारें चिन लीं। सारे जहाँ का दर्द अपने जिगर में छिपाए, आशा जी का कोमल मन सामाजिक विषमताओं को देखकर कराह उठता है, 'कोठियाँ' शीर्षक कविता में इसकी भावाभिव्यक्ति हुयी है। वे सर्वहारा जन के कष्टों और उसकी बेबसी को देखकर आक्रोशित होती हैं व्यवस्था पर प्रहार करती हैं-

दावा कर रहीं अखबार की कतरने

ले आएँगी ईंकलाब
सूखे सरकारी हैण्डपम्प
बुझा देंगे बस्तियों की प्यास
भूख खा रही अंतड़ियों को
अभाव बेच रहे गुर्दों को
नारे दिखा रहे उनको
रामराज्य का ख्वाब।

आम आदमी की तकलीफों का बयान करती, खोखले चुनावी दावों की बखिया उधेड़ती ये पक्तियाँ यह सिद्ध करती हैं कि आशा जी की कविता निराला जी की काव्य परम्परा की सशक्त संवाहिका है। 'चटाई' शीर्षक कविता की कुछ पंक्तियाँ उद्धत करने का लोभ संवरण नहीं कर पा रही हूँ-'नारी इंसान नहीं चटाई'- नारी जीवन की सार्थकता मात्र इतनी है कि वह एक चटाई की भाँति जब जहाँ चाहे बिछा दी जाती है। आशा जी विदुषी है। अस्तित्ववादी चिन्तन की गंभीर अध्येता हैं। उनकी चटाई शीर्षक कविता में 'सिमोन' के स्वर मुखरित होते हैं। रुढ़ियों में जकड़े मनस् 'नारी-जात' के प्रति उदार दृष्टि वस्तुतः कहाँ रख पाते हैं? तभी तो आशा जी ने तल्ख टिप्पणी करते हुए लिखा है-

"जाती बेची खरीदी
दी जाती छूट पुरस्कार में
जानती नहीं जिसे उसी की
हो जाती होती बटाई।" (चटाई)

आशा जी की चेतना, सृष्टि के कण-कण में अनुस्यूत जीवन से तादात्म्य स्थापित कर, स्पन्दित होती है। उन्हें सामाजिक पर्यावरण के निरन्तर छीजते जाने की तकलीफ के साथ-साथ प्राकृतिक पर्यावरण के असन्तुलन की गहरी चिन्ता भी है। 'सर्वनाश' शीर्षक कविता के माध्यम से जिस विनाश का स्केच आपने किया है, वह मर्मान्तक है। हरे-भरे छतनार महुए के वृक्ष का काटा जाना आशा जी को ऐसा महसूस होता है, जैसे अपनी काया का ही कोई अंश कटकर गिर गया हो। इसमें व्यक्त उनकी पर्यावरणीय संचेतना उनके काव्य की शिवत्वमयी दृष्टि है। आज जिन प्राकृतिक आपदाओं का सामना हम कर रहे हैं, वे सब प्रकृति के साथ की गयी हिंसा का ही दुष्परिणाम तो हैं। यह कविता लौकायतिक परम्परा के पोषकजन को उनके दृष्टिकोण-परिवर्तन हेतु अवश्य विवश करेगी ऐसी मेरी मान्यता हैं।

ऐसा नहीं कि 'जीवन बिन्दु' में सामाजिक यथार्थ का शुष्क आकलन मात्र है। या उससे उपजा हुआ रुदन है। उनकी इस कृति में लोक के लिए समाधान और सकारात्मक सन्देश भी है। वे कहती हैं-

मानव परिभाषा नियत करने को
निकलना होगा घेरे से बाहर
घेरा कंठस्थ जानकारी का
खड़ा कर रखा है, जिसे हमने
चहारदीवारी सा चारों ओर अपने

करानी होगी मानव स्वेद गंध सनी
खेतों की मेड़ों से, संदर्भ सहित व्याख्या
मानवता की।

आशा जी की सुकुमार अभिव्यक्तियाँ उनके गीतों में बरबस फूट पड़ी हैं। इन गीतों में इतनी रागात्मकता है, ऐसी लयबद्धता है, जो संगीत का ककहरा तक नहीं जानने वालों को भी कूकने के लिए विवश कर देती है एक बानगी देखिए-

तुम पराग सी पुष्प-हृदय में
व्यथित भ्रमर सा मैं खोजूँगा

तुम राग रञ्जिता स्निध चन्द्रिका
मैं विलास ओढ़े अनुराग।

आशा जी मेरी प्रिय सखी हैं। विश्वेश्वर से मेरी प्रार्थना है कि वे ऐसे अमृतोपम जीवन-बिन्दुओं को अपने साहित्य-कलश में भरकर सुधीजन को ऐसे ही कृतार्थ करती रहें, रसमयता प्रदान करती रहें। इस कृति के प्रकाशन के अवसर पर मैं अनन्त शुभकामनाएँ प्रदान करती हूँ।

अशेष मंगलकामनाओं के साथ-

डॉ. सविता भारद्वाज
रीडर, दर्शन विभाग
काशी नरेश राजकीय स्ना.
महाविद्यालय, ज्ञानपुर

शुभाशंसा

कविता ललित कला है जो सुरुचि की द्योतक है। धन्य है वह प्राणी जिसको काव्य कला में रुचि है और वह प्राणी तो और धन्य है जिसे काव्य रचना की शक्ति प्रकृति ने दी है। कविता का संबन्ध संवेदना से है और संवेदना का वेदना से। प्राणी स्वयं की वेदना तो झेलता है पर कवि दूसरों की वेदना को महसूस करते हुए आत्मसात कर लेता है और वही महसूस करने वाली प्रक्रिया उसे रचनात्मक बना देती है। कवि, कलाकार और रचनाकार सामान्य लोगों से ज्यादा ही संवेदनशील होते हैं। उनकी यह संवेदनशीलता ही उनको गतिशीलता प्रदान करती है और वे स्वयं को अपनी कला के प्रति समर्पित कर देते है। उनका यह समर्पण उन्हें क्या कुछ देता है इसी से उनकी पहचान बनती है। कविता वह कला है जो प्राणी को तहजीब सिखाती है जीने की कला प्रदान करती है, शिष्टाचार के तरीके और जीवन के सलीके सिखाती है। किसी पूर्व काव्य मनीषी की दो पंक्तियाँ स्मरण हो आईं जिन्हें उद्धृत करना अनुपयुक्त नहीं है-

मन रमा रमणी रमणीयता
मिल गई यदि वे विधि योग से
पर जिसे मिली कविता सुधा
रसिकता सिकता सा है उसे

मात्र इतने से ही कविता की महत्ता को समझा जा सकता है।

कविता में रस, अलंकार, लालित्य और सौन्दर्य बोध हो तो फिर आनन्द ही नहीं लोकोत्तर आनन्द की अनुभूति होती है। हर रचनाकार की अपनी अलग शैली होती है। विविध विषयों को लेकर उसे कहने या व्यक्त करने की अपनी-अपनी क्षमता हर रचनाकार में अपने ढंग की होती है। हमें उसकी रचना प्रक्रिया का सम्मान करना चाहिए। जो भी कृति जीवन के शाश्वत मूल्यों से जुड़े होंगे जीवन के निकट होंगे, वे कुछ ज्यादा ही प्रभावित करते हैं और मर्म को छूती है। वे कृतियाँ हमेशा हमेशा ही रहती है। लोग उन्हें आत्मसात कर लेते हैं और लोग उनके उद्धरण यथा समय प्रस्तुत करते रहते है। किसी भी कला की यही सार्थकता है।

डॉ. आशा यादव की कृति 'जीवन बिन्दु' काव्य-संग्रह के रुप में आपके हाथ में है। विविध विषयों पर लिखी गयी रचनाओं के कथ्य और उनके तेवर अपनी पहचान कराने में सक्षम हैं। इनकी अभिव्यक्ति इनकी संवेदनशीलता का एहसास कराती हैं। साहित्य के प्रति इनका अनुराग जहाँ इनकी सुरुचि सम्पन्नता

का बोध कराता है वहीं इनकी काव्य रचना की प्रक्रिया इनकी सुरुचि से परिचय कराती है। 'आदमी बन' शीर्षक से लगता है जैसे आज आदमी, आदमी रह ही नहीं गया है। उसे आदमी बनने की हिदायत दी गई है आखिर क्यों? यह एक सवाल है जो कविता के अन्त तक सवाल ही रह जाता है। परिभाषा आदमी की जिसमें शुरू में ही रचनाकार ने कह दिया है कि-

मानव परिभाषा
नियत करने को
निकलना होगा घर से बाहर।

घर की सीमा से बाहर निकलने पर आँख खुल जाएगी। सीमित दायरे की सीमित सोच यानी संकीर्णता से उबर कर समाज को देखने समझने और कुछ ग्रहण करने की बात जेहन में आएगी। विशाल संसार के दर्शन कर उससे कुछ पा लेने की साध से ही जिन्दगी सार्थक होगी। वर्ना आदमी कितना खतरनाक है इसका आभास 'कुत्ता और आदमी' से हो जाता है। एक घटना याद आती है दो कुत्ते लड़ रहे थे आपस में गाली-गलौज भी कर रहे थे। एक ने बहुत झल्लाकर कहा 'आदमी कहीं के'। इस पर दूसरा शर्म से भर कर डबडबाई आँखों से निहारते हुए बड़े विनम्र भाव से बोला भाई तू मुझे इतनी बड़ी गाली मत दे। इससे साफ जाहिर होता है कि आज आदमी कहाँ पहुँच गया है।

आदमी अपने को बड़ा समझता है, प्रबुद्ध समझता है और और कुछ समझता है। उसका असर क्या है। मैं उन्हें नमन करते हुए उनके प्रति आदर भाव रखते हुए उनकी ये पक्तियाँ यहाँ रख रहा हूँ।

मेरे दिल के किसी कोने में एक मासूम सा बच्चा
बड़ों की देखकर हालत बड़ा होने से डरता है

इससे स्पष्ट हो जाता है कि बड़ा होकर आदमी क्या कुछ हो जाता है। वह नारी को चटाई की तरह समझता हैं। यह भी एक विडम्बना है। नारी मातृ स्वरुपा है, शक्ति है, भार्या है, भगिनी है, पुत्री है। उसे किसी सामान की तरह समझना उसकी बुद्धि की बलिहारी है।

इस प्रकार की अनेक रचनाएँ हैं जो सहज ही मन प्राणों को छू पाती हैं। इस कृति के लिए आशा जी को बहुत-बहुत बधाई। उनकी रचनाशीलता बनी रहे उसमें और निखार आये यही मेरी शुभकामना है।

हरिराम द्विवेदी

शुभाशंसा

कविता उस उफनती हुई अनुभूतियों का नाम है- जो मनोजगत् की सीमायें पार कर शब्द-धारा के रुप में बह कर निकल आती है। ये अनुभूतियाँ आत्मकेन्द्रित भी होती हैं, वस्तु केन्द्रित भी और विकेन्द्रित भी होती हैं।

आशा जी की जो कवितायें इस गुच्छ में संग्रहीत हैं उनकी भावभूमि आत्मकेन्द्रिकता में आबद्ध नहीं हैं। उनकी भावनायें आत्मकेन्द्र से विश्वकेन्द्र तक संयुक्त हैं। इसीलिये शहर के भागते हुए जनस्रोत से अलग होकर भी वह अकेली नहीं होती उनकी दृष्टि वहाँ भी किसी कबीर को ढूँढ़ लेती हैं। वे आह्वान करती हैं- 'बनाने को बिना दरवाजे का घर', चाहती हैं बनाना आदमी को सिर्फ 'आदमी' इस गुच्छे की पहली कविता 'आदमी बन' झकझोरे बिना पाठक को नहीं छोड़ेगी। इस गुच्छे की दूसरी और तीसरी कविता ''आखिर क्यों'' और ''परिभाषा आदमी की'' इसी प्रकार मानव दृष्टि की कवितायें हैं।

कवयित्री की भावनायें आज की जनवादी कविताओं के धरातल पर अपनी सशक्त पदक्षेप से आगे बढ़ती हैं। 'इन्क्लाब आ रहा' जैसी कविताएँ इसका साक्षात प्रमाण हैं, परन्तु उनकी भावनायें वहाँ रुकती नहीं हैं उन कविताओं का एक क्षितिज और है। यदि रोटी, कपड़ा और मकान मनुष्य की महान् आवश्यकताएँ हैं, तो स्वप्न, सृष्टि और विश्वास उससे भी महानतम आवश्यकताएँ हैं। 'रोती हुई बच्ची सम्भालो तुम तनिक' ऐसी ही सृष्टि स्वप्न की कविता है। खेतों की कटी हुई जड़ें, संध्या की लालिमा, तारे और चाँदनी सब हैं उस सृष्टि के उपकरण, उनके कभी खण्डित न होने वाले दृढ़ विश्वास का अन्त सन्देश है 'वजूद'।

ऐसा नहीं है कि कवयित्री के व्यक्तिगत सुख-दुःख का स्पर्श नहीं है इन कविताओं में जब तक ताप दग्ध हृदय की भावनायें न हो पिघल कर प्रवाहित तब तक कैसी कवितायें? परन्तु भावनायें, व संवेदनायें भी इतने व्यापक एवं सघन भावभूमि में अवस्थित हैं कि सार्व देशिक संवेदना का रुप ले लेती हैं '' दो वरदान'' और ''कुछ अनुत्तरित प्रश्न'' ऐसी ही कवितायें हैं।

कवयित्री की रचनाओं में छायावादी युग का सहज और सुन्दर प्रतिफलन ''मैं और तुम'' और ''बसन्त श्री'' कविताओं में दृष्टिगोचर होता हैं। ये कविता नान्दनिक सौन्दर्य से झंकृत हैं। ''नंगी धरती पर नंगे पाँव'' कविता में जहाँ वे धरा की नाड़ी का स्पन्द अनुभव करती हैं और अन्याय के पूरे युग के अन्त की घोषणा कर डालती हैं- वह स्थान छायावाद से छायावादोत्तर युग की यात्रा हैं।

यद्यपि कविताओं की व्याख्या या टिप्पणी अनुचित ही होती हैं क्योंकि इससे भावों को ग्रहण करने की जो पूर्ण स्वतन्त्रता पाठक को प्राप्त होती हैं- व्याख्यायें या विवेचनायें उसे सीमित कर देती हैं फिर भी डॉ. आशा यादव के कर्म जगत् और मनोजगत् के साथ निकट का सम्बन्ध और इन कविताओं के भावों की सहज प्रेरणा के कारण ये शब्द सहज ही निकल आये।

वस्तुतः विभिन्न भाव गुच्छों से सुशोभित यह काव्य-संग्रह उस सयत्न संजोये गये फूलों के उस छोटे गुच्छे के समान हैं जिसमें हर एक का रंग एवं सुगन्ध भी अलग-अलग हैं। अलग-अलग आकर्षण हैं। इस गुच्छे की महक दूर-दूर तक फैलती रहे, हृदय को महकाती रहे- इसी शुभकामना के साथ।

डॉ. शान्ता चटर्जी
रीडर संस्कृत विभाग
वसन्त कन्या महाविद्यालय
कमच्छा, वाराणसी।

आदमी बन

भागमभाग मची
भीड़ बहुत जल्दी में
बीच में कबीर कोई
कोई धूमिल, नीरज
धीरे-धीरे रेंगता
भागते लोगों के चेहरे पर दृष्टि डालता
पढ़ता, मुस्कुराता, ठमकता
पिछड़ता जाता।

पहुँचा बगल में मैं
पूछा-
आपको कोई काम नहीं
कहीं जाने की जल्दी नहीं
बोले-
खाने भर बुन लिया
जरूरत भर चुन लिया
जल्दी किस बात की?

फिर रुके
मेरी आँखों में झाँका
बोले-
तू आधा आदमी आधा जानवर लगता
तूने मेरे लिये सोचा?
ग़ैर की खातिर
अपनी खोल से बाहर निकला
दो बातें की

दो कदम साथ चलो।
यह भीड़ देखो-
जानवर कीट-पतंगे
हाँका लगा
भाग रहे जान बचाकर।

मैंने साहस बटोरा-
आधा आदमी कहा-
पूरा नहीं बन सकता?
बन सकते जितनी कूबत हो पास उतने
करना होगा बेटी देना बन्द
अपने काम से काम रखने वालों को
उनकी चमड़ी के लगा सकोगे पैबन्द
अपने फटे पुराने जूतों में?

भर सकोगे जेब
ग़ैरों के झगड़ों से
बना सकोगे बिना दरवाजे का घर
खाट पर सड़कर मरे मुर्दे
मर सकोगे लड़ते-लड़ते जिन्दा
सी सकोगे छिपकली के जबड़े
सदियों से बन्द पड़े अपने मुँह से।
खाना शुरू कर सकोगे कीट-पतंगा
कर नकली मुखौटों को नंगा।

पैदा कर सकोगे शहर में
शरीफों का आतंक

गाँवों में कुदाल, फरसे, बँसुले, फार, खुरपी को
बना सकोगे लड़ाई के हथियार।
जरायम पेशेवर तस्करों के भीतर
बैठा सकते हो डर
मार सकते हो शब्दों की गोली
भाषा के कट्टे से।
टँगवा सकते हो इन मुर्दों को
खाल उधड़े बकरों की तरह उल्टा
कसाई की दुकान पर

खोल सकते हो
जरुरत भर कसाई की दुकानें
पगडंडी से जनपथ
जनपथ से राजपथ तक
डोल सकते हो
जुबान और सर से ही नहीं
हाथ पैर से भी
कर सके तो कर
जितना हो दम
जितनी कूबत हो
आदमी बन।



आखिर क्यों?

अजीब सी खामोशी है
पसरा सन्नाटा है
रुँध गयी हैं सासें
थम गया है जीवन
खुद रही हैं कब्रें
दफन हो रहें हैं शव
मिट गये हैं कितने
परिवारों के नामों निशाँ
भीषण आतंकी कहरों के बीच
ढोने को लाशें
शेष हैं वही
जो साक्षी हैं
उन मासूम किलकारियों के
जो पिघला देती थीं
मोम की तरह उनके अन्तस्।
किन्तु आज
वही मासूम किलकारियाँ
बदल गयीं चीखों में
उन पर ढाए कहर से।
धीरे-धीरे खो रही हैं चीखें
सन्नाटों के साए में
करती जा रही हैं सूनी ममता को
ठूँठे दरख्त की तरह निष्प्राण।
सूखी पथराई आँखों से
विवश हो देख रही ममता
क्रूरता का ताण्डव
और ढो रही अपने ही कंधों पर
अपने जाए आँखों के तारे।

स्तब्ध हैं सभी
समझ नहीं पा रहे
क्यों हो जाती हैं शून्य संवेदनाएँ
बँट जाता है हृदय
मिट जाती है कोमलता
कर्कश हो जाते हैं भाव
खड़ी हो जाती हैं दीवारें पत्थर की
कोमल हृदयों में।
क्यों बर्बरता के आलम में
ढाने लगता है कहर
बहशी मनुष्य
उन मासूमों पर
जो नहीं पहचानते दीवारों की शक्लें
नहीं समझते मुखौटों की भाषा
दे देते आहुति
आतंकी अग्नि में
हँसते-हँसते
और छोड़ जाते ढेरों प्रश्न
अनुत्तरित।
आखिर कब तक अभिशप्त हो
हम सहते रहेंगे सूनापन?
कब इन चीत्करों से हिल उठेंगे अन्तस्
और टूटेगी हमारी चुप्पी।
आखिर कब हम देंगे
इन प्रश्नों के समुचित उत्तर?
जड़ हुई मानवता कब चेतेगी?
क्या अभी भी है किसी और हादसे का इन्तज़ार?
क्यों?
आखिर क्यों?



परिभाषा आदमी की

मानव परिभाषा
नियत करने को
निकलना होगा घेरे से बाहर।
घेरा कंठस्थ जानकारी का
खड़ा कर रखा जिसे हमने
चहार दीवारी सा
चारों ओर अपने।
उतार फेंकना होगा
रंग-बिरंगे चश्मे
जो बनते हैं बाधक
देख पाने में, सही।
पढ़ना होगा ककहरा
पगडंडियों से
पद चिह्न वाली
आदमी के।
करानी होगी
मानव-स्वेद-गंध सनी
खेत की मेड़ों से
सन्दर्भ सहित व्याख्या
मानवता की।
करना होगा साक्षात्कार
जर्जर मानसिकता वाले
सुविधा के गुलामों को छोड़
मिट्टी सने हाथ-पाँव वाले
राजगीरों से।
लेनी होगी निर्माण की शिक्षा
छेनियों हथौड़ियों से
नपी तुली चोट लेती देती

शिल्पकार की हथेलियों में पड़े
निशान और घट्ठों से।
चित्रकारों की अंगुलियों
और कलाइयों के लोच से
पूछना होगा तात्पर्य
कोमलता नम्रता का।
हस्तकला मनीषियों से
खुलवाना होगा मर्म
भावनाओं के
जादुई आवरण का।
करनी होगी
श्रम की महत्ता की अनुभूति
श्रमिकों के कालिख सने
अंगों के स्पर्श से।
घर की चूल्हियों में
खो चुकी आँखों की रोशनी
स्टोवों के विस्फोटों में
सती हुई गृहिणियों से
अनुसंधानित होगा
प्रकाश और जीवन का मूल्य
जवानों की खण्डित काया
जले-गड़े अवशेषों से
बाहर भीतर पड़े
घाव के निशानों से
लिखना होगा सच्चा इतिहास।
जाना होगा
जिन्दगी की परिभाषा ढूँढने
चट्टानों की छाती चीरकर उगे
पौधों पर झूमते फूलों की भाँति

जिजीविषा वालों के पास।
सुविधा से खिलने के कायल
खाद-पानी देख-रेख के मोहताज
अनुकूलता के बंदी
बिकने वाले फूलों को
नज़र-अन्दाज़ करके
व्यर्थ ही जिन्दगी भर
परिभाषा आदमी की
ग्रंथ में क्या ढूँढना
रचती जा रही नवग्रंथ
परिभाषा में नयी
हर पल जिन्दगी।



कुत्ता और आदमी

नित्य टहलने जाती
मैं मेरे कुछ मित्र
ढेर सारे लोग और भी।

आज घटी दुर्घटना
बुरी तरह लड़ रहे
बाग में दो कुत्ते
जान लेवा झगड़ा।

थककर चूर
अलग हो
एक दूसरे से
लगे देने गाली।

कुछ देर चला सिलसिला
बगीचे वाले कुत्ते को
दी गाली
'आदमी कहीं के'।

सुनते ही गाली देना बन्द
दूसरा लगा गिड़गिड़ाने
भाई ले ले मेरी जान
पर इतनी भद्दी गाली न दे
बन्धु!

कुत्ता कितना भी गिर जाय
आदमी नहीं हो सकता।

ठीक है बोला बाग वाला कुत्ता
मैं नहीं चाहता
गन्दी करना अपनी जुबान
इतनी भद्दी गाली देकर
तू ही मेरी हद में आया
मेरे हक़ पे दृष्टि गड़ाई
माफ कर भाई।



ढेर रेत की

नदी किनारे
बिछी रेत के
रहते-रहते साथ
हो गयी मैं भी
ढेर रेत की।
रेत तो फिर भी
बस्ती जाकर
कीमत पाती
मैं तो जल के
इतने पास
रहकर भी
प्यासी की प्यासी।
पगली सी
खुद से बतियाती
खुद ही हूँ मैं
खुद की थाती।
खुद से ही
विश्वास उठ गया
फिर जग में
किसको पतियाती।
नदी किनारे
बिछी रेत के
रहते-रहते साथ
हो गयी मैं भी
ढेर रेत की।



चटाई

नारी इंसान नहीं चटाई।
जाती बेची खरीदी
दी जाती छूट पुरस्कार में
शुल्क के साथ अन्जाने हाथ
जानती नहीं जिसे
उसी की हो जाती
होती बटाई
नारी इंसान नहीं चटाई।
मोड़कर रखी नीचे
जब जहाँ चाही बिछा ली
लपेट फिर गोल कर दी खड़ी
कोने में दीवार के सहारे पड़ी
साल-साल टुकड़े-टुकड़े कटी
जैसे तैसे जहाँ-तहाँ बटी
होती छँटाई
नारी इंसान नहीं चटाई।
विवश बंदिनी
चूल्हा, चक्की, बरतन,
घर, दालान, कपड़ा,
रसोई, गुसलखाना, हमाम,
चादर, बिछौना, चारपाई,
पति-पुत्र-भाई

सबकी समाई

नारी इंसान नहीं चटाई।
दादी, माँ, बहन
कहती- करो सहन
सास, ननद, जेठानी
नाक तक भरती पानी
मुँह कभी न खोलना
जिन्दगी में जहर न घोलना
होगी जग-हँसाई
नारी इंसान नहीं चटाई।



हल्का मन

जब-जब तूने मुझे सताया
अन्तः सोया दर्द जगाया
सारी आहें उठीं सनातन
फिर भी हल्का होता मन।
जब भी छीने तूने चैन
गीला कर गये मेरे नैन
भीगे जग के सारे कन
फिर भी हल्का होता मन।
जब भी तूने कुतरे पंख
मौका देखे फूंके शंख
झुका हुआ सर जाता तन
फिर भी हल्का होता मन।
जब भी तूने वार किये
अनगिन टिम-टिम बुझे दिये
पाँव पसारे अँधियारा घन
फिर भी होता हल्का मन।
जब तू पीछे-पीछे घूमे
बढ़ते कदम सराहे चूमे
राहें सीधी जातीं बन
फिर भी होता हल्का मन।
नहीं सुलझते मुझसे पल
झुलसे अपने सारे कल
खोया अपना कहाँ कथन
फिर भी होता हल्का मन।
दर्दों के नासूर हैं रिसते
साँस की चक्की पिसते-पिसते

काल काँपता गन-गन-गन
फिर भी हल्का होता मन।
मुट्ठी बाँधे हुए लाचार
छोड़ पसीना माने हार
बस से बाहर जर्जर तन
फिर भी होता हल्का मन।
सारे नाते बंधन तोड़
पंछी प्यारा पिंजरा छोड़
उड़ गया कितना निष्ठुर बन
फिर भी हल्का होता मन।



मुझे जाने दो

अब बुलाओ ना मुझे जाने दो।
भोग पीछे भागता
भटका शून्य जल-थल
खोया खोजते पल
थककर चूर निश्चल
अब लुभाओ ना मुझे जाने दो।
अब बुलाओ ना मुझे जाने दो।
कल्पनाएँ हो गयी निर्वस्त्र
चोटिल भावनाएँ
बिखरे स्वप्न सारे
बाँझ सारी कामनाएँ
अब सताओ ना मुझे जाने दो।
अब बुलाओ ना मुझे जाने दो।
मन मीत पागल
डूबा साथ लेकर
सगा गहरा अँधेरा
गये सब दगा देकर
अब रिझाओ ना मुझे जाने दो।
अब बुलाओ ना मुझे जाने दो।
न आया हाथ कोई पल
छलता गया क्षण-क्षण छल
तन ने साथ रहते खोया अर्थ
रग-रग राख जल-जल
अब बुझाओ ना मुझे जाने दो।
अब बुलाओ ना मुझे जाने दो।
उदासी हाथ मलती

पराजित वेदना है दूर
व्यथा उद्वेग हैं विक्षिप्त
दुःख द्वेष थककर चूर
अब बचाओ ना मुझे जाने दो।
अब बुलाओ ना मुझे जाने दो।
विश्वास खण्डित हुआ
भरोसा हो गया निष्प्राण
हतप्रभ द्वन्द्व सब कुछ छीन
छेड़ती मुस्कान अपनी तान
अब रुलाओ ना मुझे जाने दो।
अब बुलाओ ना मुझे जाने दो।



सभ्यता चुप रहती

आँखों के रोने
कलेजे के दुखने
दोनों का साथ
पत्थर युग की बात।
आदमी आदिम में नहीं
चढ़ चुका सभ्यता के
कितने सोपान
सीख चुका बिना दर्द के रोना
फिर वेदना को पीना
सूखी आँख जीना।
बेमौसम का धाँसू गुस्सा
आँसू सिसकी
अदा कीमती
बिन पीड़ा के रोता
अदाकार
स्टार होता।
ऊँचाई का अर्थ
मर्द का अधो वस्त्र
औरत की पहचान
मर्द पर कुर्बान
और बौनी घासों की चकती
उगी पर्वत की चोटी ढलानों पर
सिली जुबान
नहीं खुल सकती।
न करना ज़ुर्रत
रहना बस चुप सहती
सभ्यता मुखर नहीं
मौन रहती।



कोठियाँ

कारीगरों के हाथ की
खालें चबाकर
खड़े फर्मे में
आकार लेने को
टोकरों में बैठ
चढ़कर जा रहीं
सर पर मजूरों के
सनी-गीली कोठियाँ।



रोती हुई बच्ची सँभालो तुम तनिक

दीखता है नहीं चेहरा पास कोई
मैदान निर्जन पड़े चारों ओर खाली
ढोयी जा चुकीं सब काट फसलें खेत की
केवल जड़ ढँके हैं खेत की मिट्टी
इन जड़ो को जोड़ बुनना चाहती हूँ
नन्हा बिछौना लाडली का मैं।
रोती हुई बच्ची संभालो तुम तनिक।

खो चुका लो तेज सूरज
होता जा रहा है लाल मीठा
बैठा ओट ले रखा धरा की आखिरी
बिखरा पड़ा अरुणाभ कण-कण
भर गया संसार सागर लाल जल से
इसी रंग में डुबो अपनी तर्जनी से
रँगना चाहती हूँ होठ अपनी लाडली का मैं
रोती हुई बच्ची संभालो तुम तनिक।

ढँकी नीले लाल मिश्रण से
हल्की कालिमा धुँधली सी बनकर छा गयी
घेरा पेड़ पौधों का पड़ा दिगन्त में
संध्या जलाती तारिका एक-एक कर
गुन-गुन स्वर सजा किंचित् स्वप्न करना चाहती सच
सिंदूरी माँग वाली वधू बैठी पसारे पैर दोनों
गूँथ लेना चाहती हूँ हार तारों का
सीना चाहती हूँ चाँदनी का एक झबला
ढँक सकूँ तन नग्न अपनी लाडली का मैं
रोती हुई बच्ची संभालो तुम तनिक।



वजूद

शिशिर का सूनापन
धरती का श्रृंगार
कोयल की काकली
गुलमोहर की मुस्कान
वासंती पवन की आहट......
इन सबमें गूँजता है एक स्वर-
उठो! जागो!
तुम सूखकर मिट्टी में गिरे फूल नहीं
जो बिखर जाओ
तुम सरस बीज हो
जो सृजन करता है।
माटी का रस सोखकर
उर्वर बनाता है
नयी पौध को।
अपनी जड़ों को फैलाता है
धरती की गहराइयों तक
और सिखाता है
अपने जाए को तनकर खड़े होना।
न केवल प्रकृति
बल्कि धरती की अतल गहराइयों से भी
तुम्हें अपने आँचल में समेट लेने के लिये
कोई विकल है।
पुकार रहा है
तुम्हें यह बताने के लिये
कि छोड़ दो बरगद की छाँव
यह पनपने नहीं देगी तुम्हें

घोलेगी विष तुम्हारी सरसता में
निचोड़ कर छोड़ेगी तुम्हें
हद के आखिरी दम तक
और मिटा देगी तुम्हारा वजूद
तुम्हें मिटना नहीं है
सीधे खड़े होना है
तनकर
उन्मुक्त आकाश के नीचे
खुली हवा में साँस लेना है।
अपनी भावी संतान को
संसार में लाने के लिये
घास के तिनके को
चुन-चुन कर
नया नीड़ बुनने वाली
उस पंखिनी की तरह
पूटी शिद्दत के साथ
तुम्हें भी
अपनी भावी पीढ़ी को सँजोना है।
बनाओ अपना नीड़
जिसके नींव की
एक-एक ईंट
तुम्हारे हाथों के
सरस कोमल स्पर्श से भींगी हों
जिसके वातायन से
झाँककर
तुम फिर से देख सको
गुलमोहरों की

सिन्दूरी चमक
अनुभव कर सको
अन्तस् की गहराइयों तक
पलाश की लालिमा
सुन सको
कोकिल की रागिनी
जो मिटा दे
तुम्हारी शुष्कता
लौटादे तुम्हारा वजूद।
जिसकी तुम्हें तलाश है
एक अरसे से।



अनुत्तरित प्रश्न

सूख गयी सरस्वती
सागर पहुँचने से पहले
दौड़ पड़ा पीछे-पीछे सागर भी
न जाने कहाँ ढूँढते-ढूँढते।
एक बार सत्यवान गये थे
सावित्री छीन ले आयी थीं
काल की बाहें मरोड़
इस बार सावित्री गयीं।
सत्यवान भी खो गये उन्हीं के साथ
क्यों नहीं कर पाए कुछ
खो गये अनाथ करके
हमारा आकाश।
वैसे तो बहुत हैं छोटे-छोटे तारे
चमक रहे केवल अपने-अपने लिये
किंचित प्रकाश भी नहीं दे पा रहे किसी को
कहाँ टिकेंगे हमारे पाँव, कैसे बुझेगी हमारी प्यास।
कौन देगा हमें प्राण वायु, कब पाएँगे हम रोशनी
क्या आधार दे सकेगा हमें यह ठगा आकाश
जब हमारे सर्वस्व हो गये सर्वहर
फिर ये महाकाल कैसे पराजित हुए काल से?
उत्तर देने के लिये
कोई नहीं रह गया शेष
सूनी खाट, गूँगा कमरा
उदास छत।



दो वरदान

त्रेता युग में कैकेयी ने माँगे थे
दो वरदान दशरथ से
किसी मन्थरा के उकसाने पर
आज भी कलियुग में
माँग रही है दो वरदान सीता
लव और कुश के लिये
अपने अन्तस् की आवाज पर
किन्तु राजगद्दी किसी के लिये नहीं
दोनों के लिये वनवास
जिससे चौदह वर्षों में ही सही
कलियुगी रावण व कुम्भकर्ण का
कर सकें फिर से नाश
दूर कर सकें ऋषि मुनियों के कष्ट
तथा फैला सके सत्य का साम्राज्य
अपने पौरुष के बल
जिससे फिर से न देना पड़े
किसी सीता को अग्नि परीक्षा
किसी कलियुगी सफेदपोश धोबी के कारण
जो खुद बैठा है पाप की गठरी पर
और गट्ठर खोलकर
कर रहा है प्रयास
पाप को धोने का
गंगा जल से।



आस एक माँ की

पेड़ों पर फुदकती
आसमान में विचरती
धरती पर दाना चुगती चिड़िया
धोसले में अपने जायों को
पालती पोसती दुलारती पूरी तन्मयता से।
अचानक एक दिन किसी बाज की दृष्टि पड़ी
उस हँसते खेलते नीड़ पर।
उसने घात लगाकर मारा झपट्टा
उठा ले गया उन कलेजे के टुकड़ों में से एक।
दैवयोग से बाज के पंजे की ढीली पकड़ से
छूटा वह चिड़िया का बच्चा
जिसके पंख नहीं थे पूरी तरह विकसित
लड़खड़ाते हवा के थपेड़े खाते
गिरा वह किसी पुआल की ढेर पर सुरक्षित
जो समीप ही था उस चिड़िया के नीड़ से।
बदहवास चिड़िया चीं चीं करती
छटपटाती
इधर-उधर खोजती अपने बच्चे को
पहुँची उस ढेर के पास
जहाँ टकटकी बाँधे उसके जिगर का टुकड़ा
देख रहा था बड़े ध्यान से
उधर से उड़ने वाली हर चिड़िया को
कि शायद उनमें से कोई उसकी अपनी माँ हो।
दोनों की जान में जान आयी
उसके जिगर का टुकड़ा
जिसके प्राण थे अभी शेष

मिला उसे उस ढेर पर।
ले गयी अपने साथ
उसकी छत्रछाया में
वह फिर से सँभला
स्वस्थ हुआ
और सीख लिया उसने
अपने पंखों से उड़ना
उन्मुक्त आकाश में।
ईश्वर न करे पुनः पड़े उस पर
किसी बाज की नजर
वह डटकर खड़ा रहे अपने पैरों पर
सभी झंझावातों से लड़ने में सफल
निर्भय निडर
विश्वास से भरपूर
विवेक से सम्पूर्ण
बस इतनी ही है आस
उस माँ की
अपने लाल के लिये।



वसन्त-श्री

बीते वसन्त कितने
बीती नहीं वसन्त-श्री तेरी-
गूँज मन्द-ध्वनि पल-पल नीरव निष्पादित सी,
हृत्-तंत्री पर तार श्वास के छेड़-छेड़कर,
प्राण बाँटती विश्व-सिन्धु की बूँद-बूँद को,
मधुर-सुरों से वातायन को सजा-सजा पहनाए गहने!
बीते वसन्त कितने!

बीती नहीं वसन्त-श्री तेरी-
सहज-चपलता मन-आँगन में भरी-भरी,
नित नूतन कलिकाएँ नव-नव सुरभि लुटातीं,
कदम-कदम छिटकाती जाती तुझसे पायी ज्ञान चाँदनी,
सच करती दुधिया विवेक से वसुन्धरा के पाले सपने!
बीते वसन्त कितने!

बीती नहीं वसन्त-श्री तेरी-
मृगछौनों सी छवि नयनों की क्षण-क्षण धोती कलुष काल के,
ललित कलाओं की कलनाएँ कण-कण व्यापित,
करती रहतीं नित्य निरन्तर सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम् पूरित,
बिन विभेद के जो भी जब भी चाहे जितने!
बीते वसन्त कितने!



सड़न

रिश्तों की सड़न
घर की मोटी दीवारों को भेद
चहारदीवारी को फाँद
गलियों सड़कों पर दौड़ती
हाँफती चली जा रही
दूर बहुत दूर
मेरी पकड़ के बाहर।
भीतर की सीलन
चितकबरे धब्बों से बद्रूप
गल-गल कर रिसती
दीवारों सी गिरती
गरदैली ज़मीन पर
बैल के कंधों के
जुओं के भार से छिले
बजबजाए कीड़े पड़े
घाव की तरह
सड़ गये हैं रिश्ते
खींच रहे
लड़खड़ाती गिरती गाड़ी को
बैल नहीं
दो पहिये।
जाने कब चरमराकर
टूट जाएगी गाड़ी
जो चल रही
दो नहीं
एक-एक
पहिये के ऊपर



रिसते दर्द

मेरे दर्द रिस रहे
तेरी मुस्काराहटों के नीचे से
उसके मुख सिल दिये हैं तूने
व्यवस्था की नुकीली सुई
स्वार्थ के मजबूत धागों से।

मैं सदियों से जिंदा
तू मरता रहा
नाम पते बदल-बदल कर
सिकन्दर से हिटलर तक
फलाँ से फलाँ तक
बहुत सारे नाम पते हैं तेरे
तू तो समझता ही है। न!

मैं जीता हूँ जिन्दगी
तू जीता है मौत।

मैं पटरी पर सोता
बिना पहरा
निडर निश्चिन्त
तू बन्दूकों की साया में भी
सो न सका
कितनी सदियाँ बीती
मौत के खौफ झेलते।

बेचारा! अरे निरीह!
काश समझ पाता तू
मेरे दर्द नहीं हैं मेरे

तेरे हैं,
तेरे दर्दों को पनाह दे रखा है
अवकाश दिया तुम्हें मुस्कराने को।

और कितनी सदियाँ मरना चाहता है तू
नकली मुस्कराहटों के साथ
मैं थकने वाला नहीं
ढोते-ढोते
रिसते हुए दर्द को तेरे
बनाकर अपनें।

जितना दिन चाहे
तू जीले मौत......। जीले मौत!



तुम और मैं

तुम कोयल की कूक रसीली,
मैं आमों की बोझिल शाख।
कण-कण में तुम रस घोलोगी,
मैं समिधा सा जलकर राख।
तुम गमकोगी क्यारी-क्यारी,
बना बाँवरा मैं भटकूँगा।
तुम पराग सी पुष्प हृदय में,
व्यथित भ्रमर सा मैं खोजूँगा।
तुम कली पली किसलय के आँचल,
मैं झड़कर बिखरा पीत पत्र।
तुम निश्चित तिथि पर हुई परीक्षा,
मैं कई वर्ष का पिछड़ सत्र।
तुम पूजा की कर्पूरी लौ,
मैं बुझे दीप का उठा धुआँ।
तुम जीवन की धारा कम्पन,
मैं क्रन्दन से पटा कुआँ।
उद्देश्यों की पुञ्जभूत तुम,
मैं आलस का पर्वतमाल।
तुम अगाध जल बसी मीन हो,
मैं फैला सा महाजाल।
तुम जगती पर कामधेनु सी,
मैं नवनीत का मंथन यंत्र।
तुम पावनता की देवी सी,
मैं तीर्थों का ढोंगी तंत्र।
तुम संबंधों की पहचान,
मैं हूँ रिश्तों का व्यापारी।

तुम हरी-भरी सी शस्य श्यामला,
मैं तुषार पाला तम भारी।
तुम सुहाग बिंदिया धरती की,
मैं सागर का भाटा-ज्वार।
तुम दुधिया सी पूनम ज्योति,
उच्छाल भरा मैं पारावार।
मौन साधिका तुम वीणा की मृदु झंकार,
मैं कर्ण छेदता चर्मवाद्य का घोर निनाद।
तुम कपोल की स्मित रेखा,
मैं हृदय चीरता सा विषाद।
तुम हेमन्ती पाणिग्रहण हो,
मैं ग्रीष्म का दग्ध वियोग।
तुम सावन से झूला गीत,
मैं हिम अञ्चल का अभियोग।
तुम राग रंजिता स्निग्ध चन्द्रिका,
मैं विलास ओढ़े अनुराग।
भीनी-भीनी गन्ध उड़ी तुम,
अभ्यस्त लूटता मैं पराग।
शर्तहीन अनुबन्ध पत्र तुम,
मैं अधिवक्ता हृदय हीन।
लुटा-लुटा तुम जग की स्वामिनी,
लूट-लूट मैं भिक्षुक दीन।
तुम जनसंख्या सी पनपी हो,
मैं सुविधा का गल्प सुझाव।
तुम अतुलित सी राजलक्ष्मी,
मैं जनता का घोर अभाव।
तुम वर्तमान के भूखे उदरों की कराह हो,

मैं ग्रन्थों की पंक्ति में हूँ बैठा वैभव।
तुम रोटी के लिये जूझती शक्ति मानवी,
मैं खोता हीरे सा जीवन झूठे उद्‌भव।
तुम कलरवें सी मृदु कम्पन सी,
मैं भीषण कोलाहल गर्जन।
तुम मधु सिहरन सी रुन-झुन सी,
मैं प्रलय पवन का हर-हर तर्जन।
तुम अमर शक्ति सी नील व्योम की,
मैं कुटिल काल सा व्याल-पाश।
उतरी छम-छम सुधा तृप्ति तुम,
मैं महाजाल सा सर्वनाश।



सर्वनाश

अहरौरा घाटी से, सुकरुत की ओर चढ़ते
दाहिने हाथ अनजहवा नाले में,
खड़ा महुए का विशाल वृक्ष।
आने जाने वालों को, चइती बयार के साथ
बिना धर्म, लिंग, रंग आदि भेदभाव के
एक नशीली मीठी गन्ध रोम-रोम में भर देता।
टप-टप चूते हुए महुए के रसीले फूल
हर एक को टेर लगाकर, बुलाते से लगते
अत्यन्त निजी एकान्तिक क्षणों के
क्षीण संकेतों को ताजा करते हुए से।
महुए पर लगे जंगली चिड़ियों के
बिना पहरे के निर्जन नीड़
मतदाता सूचियों में अपने अस्तित्व बोध
कराने को प्रयासरत,
लगते नाचिरागी बस्तियों की तरह।
सन्ध्या तक नहीं रुक पाते हम
पर विश्वास है कि दिनभर
दर-दर भटकती, चुगती-चुगाती बेर ढले
लौटते होंगे पक्षियों के झुंड
जरूर ये नाचिरागी बस्तियाँ आबाद होती होंगी
चीं चीं के चिराग जलते होंगे
एक रात को इसी विशाल महुए वृक्ष पर
अपने-अपने घोसलों में साथियों के नरम-नरम डैनों के साथ
अपने पंखों को सटाकर
सो गयी सारी चिड़ियाँ।
अचानक रात के सन्नाटे में, बिछे अँधियारे में
कुछ आकृतियाँ हिलने-डुलने लगीं

कुछ हाथ कुल्हाड़ी के साथ तने
तने हाथों ने चन्द प्रहार किया
वृक्ष के तने पर, वृक्ष भहरा गया।
चिड़ियाँ घोसले सहित, धम से गिरीं,
क्षण भर के लिये जाग उठीं
फिर उसके बाद उन्हें जागना नहीं पड़ा,
भागना नहीं पड़ा मुक्त हो गईं।
हवा विधवा हो गयी, पृथ्वी की कितनी संतानें मर गयीं
धरा की काया छिल गयी, जगह-जगह घाव
गड्ढे में घँस गये, यहाँ वहाँ सूजन गुरमे उभर आए।
अँधियारा वृक्ष को खा गया,
आकृतियाँ पत्ती-पत्ती बटोर ले गयीं
चिड़ियों की मृत देह, धरती के चोटीले गड्ढे,
सूजन गुरमें न होते
तो कुछ था यहाँ, यह भी पता न चल पाता।
पृथ्वी के लिये मृत्यु नयी नहीं,
पर आज कुछ अलग घटा
अपनी जिस संतान की सबसे ज्यादा बखान करती वह
अपने बन्धु-बान्धवों को वही मार रहा
अनजाने अपने मरने के सामान जुटा रहा।
काश वह समझ पाता, हवा विधवा होगी
धरती रोएगी, तो मनुष्य भी हो जाएँगे नेस्तनाबूद
घोसलों वाली चिड़ियों की तरह, महुए के विशाल वृक्ष की
तरह।
काश! समझ पाता आदमी, इस तरह वह सर्वनाश को प्राप्त हो
धरती के घाव ताजा करेगा, अपने लिये रोने को मजबूर करेगा।
माँ धरा अपनी सबसे प्यारी संतानों की त्रुटियों पर
उनके सर्वनाश पर नई सृष्टि होने तक, करोड़ो वर्ष रोती रहेगी
बिना रुके लगातार।



गिलहरी

गलती सुबह से
गनगनाती शाम तक
पाने को एक-एक दाने
बिखरे छत पर
जारी रहती दौड़-धूप
गिलहरियों की।
फूलदार पूँछ
काली और धूसर रेखाओं से चित्रित
कोमल काया रोएँदार
काली बिन्दिया सी
दो छोटी चंचल आँखें
चुरा लेती मन।
आदमी, जल-थल-नभ, विजित करने की
ठानकर भी, नन्हीं गिलहरियों से स्वीकार कर चुका
स्थायी पराजय, सर्वदा के लिये शायद।
चतुर लघु जीव यह
बार-बार न उठ सकने के हमारे आलस्य को
साथ रहते, आक्रमण करते, प्रतिक्रिया देखते,
पहचान सी गयीं।
हट् हुट् की आवाज
हमारी डाँट करतीं अनसुनी
बेपरवाह अनमनी, दाने उठाती जा रहीं
खाती जा रहीं
निर्बलता हमारी जानसी गयीं।
इन लोभियों से बचाकर
पात्र में छुपाकर
रखे अधसूखे अनाज
उत्सुक व्यग्र नासिका लिये

पात्रों के चारों ओर
ढूँढने को छोर-छोर
व्यस्त बेचैन भ्रमण।
इतनी भाग-दौड़ से,
हाथ लगे शस्य कण
छोटे तीखे दाँतों से, कुट्-कुट् करतीं
तृप्ति के साथ खातीं, पीतीं धूप मीठी,
कितना दुस्साहसी
अतिक्रमण।
पूँछ पर टेक लगा
बैठी हुई
दोनों हाथ जोड़, दानों को उठातीं
मुँह में डालती जातीं
हम मुग्ध होकर मुस्कराते
वे करती रहतीं
अपनी क्षमता भर क्षति।
इसी बीच किसी आहट से
क्षण मात्र में
पूँछ पीठ पर लाद
भाग जातीं हठात्
बीच रास्ते में रुक
एक टाँग ऊपर उठा
खुजलातीं कान
करती उलटबाँसी यात्रा निर्भय
पूर्व स्थान पर लौटतीं
निरन्तर जब तक
विश्राम के लिये
अन्तिम बार जाने की
नहीं आती घड़ी।



अशेष

इंजन से खींचा जाने वाला लोहा
बैल द्वारा खीचे जाने वाले काठ से टकराया
काठ बिखर गया
लोहा पिचक गया
हो गये बैल अशेष
ढोए जाने वाले, चलाने-हाकने वाले आदमी
हो छिन्न-भिन्न छितरा गये।
रुका नहीं लोहा एक क्षण के लिये,
काठ भी तिल भर टला नहीं
झुके नहीं चालक भी
यात्री बेबस
सड़कें निश्चिन्त पसरीं, स्नान करतीं लहू से
जुटने लगी युद्ध
आदमी के
सोच-सम्प्रेषण-वैभिन्य बीच।
हो गयी उपस्थित
खाकी वर्दी में
कानून और व्यवस्था।
न्याय के घुमावदार मोड़ों से
घुमायी जाने लगीं
लाशें व्यक्तियों की।
भरी जाने लगीं
स्याही
निश्चित प्रपत्रों में।
अनजान लाचारगियाँ
देने लगीं साक्षियाँ।
साफ कर दी गयी सड़क

खोल दिया गया
आवागमन
हो गयीं प्रारम्भ
तैयारियाँ
नवागन्तुक भिड़न्तों की।
क्यों करती नियति
इतना भद्दा मजाक?
विषाद और विनाश की ओर।
कौन प्रेरित करता
देने को हमें
अपनी मानव जाति की
आत्महत्या को
आदरणीय आमन्त्रण।
विराट द्वारा बाँटी गयी
ज़िन्दगी की
तकाबियों की
कब रुकेगी
इतनी निर्मम वसूली।
नहीं चाहते
हम रोकना
मौत।
काश!
चन्द सिक्के
चन्द बातें
चन्द लमहे
न ले पाते
आदमी के हाथ
आदमी की जान।



नंगी धरती पर नंगे पाँव

आपने अनुभव किया कभी?
अपने और धरती के बीच के सारे अवरोध दूर कर
नंगे पाँव नंगी धरती पर चलकर।
कि धरती के नीचे कितने प्रकार की
विचित्र शक्तियाँ प्रतिक्षण लगातार चल रहीं।
अनुभव किया सूक्ष्म कम्पन
धरा की नाड़ी का स्पन्दन
चंचल उच्छवास, नृत्य करती धमनियाँ,
धधकता हृदय, सोचता मस्तिष्क।
अनुभव किया ज्वालामयी विद्धवेदना की,
थर-थर काँपती लौ की गरमाहट, नीचे से अपने पाँव में,
कि उसने अपनी संतानों को जो कुछ दिया,
सब कुछ लोभी लोगों ने हड़प लिया,
दूसरे भूखे, नंगे, बेघर माँ की गोद बैठे
रो रहे छाती पीट रहे।
अनुभव किया उसकी अविच्छिन्न चेतना
निद्राहीन उन्मत्त अधीरता, कसमसाहट,
भूचाल की, ज्वालामुखी की,
तैयारी में लगा, उसके आक्रोश का वेग।
अनुभव किया उसकी सान्त्वना
उसकी घोषणा, कि विश्वास रखो,
बच्चों तुम लोगों का भूख से तिल-तिल मरना
नहीं देखा जाता मुझसे,
इस कष्ट से छुटकारा दिलाने के लिये

करवट लूँगी, ज्वाला उगलूँगी, प्रलय करुँगी।
अपनी निर्बल भूखी संतानों को मुक्ति दूँगी,
साथ ही दूँगी उन लोभी लोगों को प्राण दण्ड
एक साथ, क्षणमात्र में।
अन्याय का पूरा युग, आज एक नन्हें से-
पल से पराजित होगा
अनुभव कर लो
नंगे पाँव नंगी धरती पर चलकर।



शिशु

पैदा होकर शिशु ने, जन्मोत्सव का आनन्द दिया,
हमने उसके जीवन को, दुःख से पाटा कड़वाहट दी।
बच्चा आया साथ सरल निष्पाप निश्छली
हमने उसको दिया कलुष, अभिमान, पाप, छल।
स्नेह दिया बच्चे ने, हँसी-हँसी कन्धे चढ़ बैठा
हमने उसको बैल बना बोझ लादकर दबा दिया।
जेबें कटवाई मँगवाई भीख
जिन्दा ही कर दिया दफन, कफन के व्यापारी हम।
शिशु ने यज्ञों की रक्षा की
हमने उसको पुरस्कार वनवास दिया
मान बचाया बच्चे ने, मिथिलापति को
सौंपा उसने परशुराम के फरसे को राज्य बचाया।
फरसे को भरपेट दवा दी फिर शिशु ने,
हमने उसको विषभरे कनक घट की उपमा दी।
शिशु आया बनकर इंसान, हमने उसको बना दिया,
हिन्दू, पारसी, बौद्ध, इसाई, मुसलमान।



पत्थर

पकड़ा पत्थर का साथ, हमें जौहरी बनाया उसने
पर हाय रे हम, पत्थर को हमने अभिशापों का सन्दर्भ दिया।
पत्थर के स्पर्श ने दी, भगवत्ता दशरथ नन्दन को,
राम ने देना चाहा पत्थर, केवट को उतराई में।
नहीं हुआ सन्तोष बनाया एक बहाना बूटी का
कपि ने पर्वत तोड़ दिया, महिमा लूटी बने यशस्वी।
सर्वनाश रोका, पत्थर ने गोकुल की रक्षा की,
कीर्ति मिली गिरधारी को पत्थर निष्कासित हो बना प्रवासी।
पत्थर ने हमको श्रद्धा बख्शी,
हमने उसको मन्दिर मस्जिद नाम दिया
तोड़-फोड़ की, खून बहाया सदियों-सदियों।
फिर भी फेरे हाथ मूँछ पर, तने सर, हम श्रेष्ठ धरा पर
सर्वोत्तम है ज्ञान हमारा, आर्यवर संस्कृति प्राचीन।
जगद्गुरु गाही के गाही, करे वसूली सोने से सिंहासन ढलवाएँ,
हाजी गाजी काजी, इमाम घूमते बनकर
शाही लूटें दौलत छत पटवाएँ।
दशा बिगड़ती जाए, ऐंठन बढ़ती जाती,
श्रेष्ठ बने हैं बैठे, सब के सब उत्पाती।



मुझे बचा ले

मन कारखाना, बुनकर मैं
लगे करघे, बुने जा रहे कपड़े
साधना के।
तरह-तरह के पुर्जे, पूरे अधूरे कामकाज
बिखरे पड़े।
ऊपर-ऊपर देखने वाला, घुस आया कारखाने में
रंगुआ चोंगा भारी भरकम, अन्जान।
आँखें बन्द कर तीसरे नेत्र से,
देख रहा सब कुछ, दावा उसका।
ठोसत्व बाधा हीन, पत्थर से चोट नहीं,
गला सकता नहीं जल, जलाने में असमर्थ अग्नि,
वायु सुखा पाएगा नहीं, आकाश कर लेगा धारण।
पागल कबीर सा मैं, हँसी आ गयी।
ऊटपटाँग पैर रखते, सामान कुचलते,
करघे तानों पर चढ़ते, पटापट तोड़ते जा रहे
साधना के सूत। ऊँचे दावे वाले महाशय ये।
काश! सीखते परवाह करना, देख पाता तीसरा नेत्र इनका
क्षति औरों की, समझदार की तरह तर्क
नासमझ सी व्यर्थ की बकवाद करते बन्द।
सुनना आता नहीं, कंठस्थ कहने को बहुत है पास,
इनको कौन समझाए, गर रह गये उलझाए मुझे,
एक चुनरी बिन बुने रह जाएगी
निर्वस्त्र रह जाएगी, एक मेरी माँ बहन कोई।
ताग-ताग बिखर जाएँगे मेरी साधना के
काश ये समझ पाते, देखकर रखते कदम,
बिना पर्दे उतारे किसी के, पहनते संसार ढँकने भर का चोंगा
बुनी चुनर माँ बहन की, हे! आत्मा मेरी बचा ले उघड़ने से,
मेरे परवर दिगार; परमात्मा मेरे
इन तीसरे नेत्र वाले दावेदारों से।



वाणी के जख्म

सुनता आया,
करता विश्वास,
भर सकते
अस्त्र-शस्त्र से किये गये,
गहरे से गहरे घाव।
सच है यह
डरता आया बहुत दिनों से,
जख्म नहीं भर सकता,
वाणी ने जो घाव किये।
जाना, तुमने क्यों चाहा
करना घाव बहुत बड़ा सा,
मेरे हृदय, बहाने गढ़कर
पहुँचायी चोटें गहरी
तीखे बाणों से वाणी के।
कितना अचरज,
विदीर्ण हुआ, जो अंश हृदय का
उसी जगह से फूटे स्रोत
सान्त्वना के
रोम-रोम सहलाते मेरा
भरते धीरज।
माहात्म्य दुःखों का
पीड़ाओं की गहराई,
भय के चरमोत्कर्ष
बढ़ाते जाते,
शक्ति सहने की।
बना गयी वह चोट,

मुझे तो पूर्ण वज्र सा,
भय के बीज, फूटे अंकुर साहस के
दुःख ने अन्तः जगा दिया
सुख की आकांक्षा।
हिम्मत उपजी,
पूरे बल से,
अपना मन,
जूझ गया फिर अपने काम।
कर गयी वेदना,
बड़ी बलवती,
आत्म त्याग की इच्छा को।
बिन अवसर बिन साधन के
इच्छा ने चरितार्थ किया
सञ्चारित हो चला प्रवाहित
वेगवती धारा सा
मन के अन्दर
उत्साह उदार।
थे सफर कर रहे कायर बन,
छोटे-छोटे दुःख के आगे,
डर-डर कर,
भाग-भाग कर,
छिप-छिप कर,
मर-मर जीते।
तेरी कृपा,
हुए भयानक घाव हृदय में
अब बड़े-बड़े, दुःख से भी ठाने
लेने को लोहा

जोगी तूने जगा दिया,
सोयी मानवता ठोकर देकर
मैं हूँ तेरा आभारी।
सुख-दुख दोनों सम लगते,
समझाते हैं मुझ जैसों को,
भर जाते हैं घाव सभी गहरे से गहरे,
अस्त्र-शस्त्र के जाए हों
या हों वाणी के उपजाए।



जीवन बिन्दु

कौन सा फीता,
जिससे नापा जाय,
जीवन पथ
लगता कभी बहुत ही लम्बा
फीते की सीमा से बाहर।
इतना छोटा सा कभी
एक नन्हा सा बिन्दु
होता जहाँ शुरू
वहीं पर खत्म।
नहीं जगह,
सिरा फीता का
रखने भर को।
कैसे बैठे संगति, सामञ्जस्य
धीरज धारण हो कैसे
बनें सम्भाव्य, असम्भव से लगते जो
सुरक्षा निश्चित हो कैसे, मनोबल टूटा जाए
आवरण बनेगा कवच कौन सा,
आयेगा दिव्यास्त्र कहाँ से।
निवारण हो पाएगा कैसे,
उठाए सर आती जीवन में,
भयावनी आशंकाओं का
जाने बिना ठीक-ठीक उनके कारण।
छूटेगा कैसे पिण्ड
अम्बारों से अनचाहे कष्टों के,
दबाते जाते मुझको।
स्थापित कैसे हो पाएगी,

मन की शान्ति,
अपने भार
डालकर किस आधार
रह सकती निश्चिन्त।
सारी सृष्टि
दौड़ाता मैं दृष्टि
क्या यह सही नहीं?
सब कुछ के लिये स्वयं मैं उत्तरदायी।
दुख सुख की नाप-तौल,
बनाती जीवन को है दूभर लम्बा,
करने की सीमा से बाहर।
कर्तव्य पूर्ति में तन्मय हो
डूबे, तो जीवन हो जाता है बिन्दु,
खोकर सारी लम्बाई।
फीता फेका,
चाह त्यागकर माप तौल की,
भीष्म सा होकर दृढ़ प्रतिज्ञ,
जुटा प्रयास में बना भगीरथ।
नीलकंठ जीवन गंगा को,
खड़ा हुए देता आधार,
गंगा पुत्र सी इच्छा पर है मेरी निर्भर
विवश बेचारी मृत्यु! बेचारी मृत्यु!



साथ-साथ

प्रकृति क्या सोचा तुमने,
जब चाहोगी,
विवश कर दोगी,
नाचेंगे हम
जैसा लय ताल बजाओगी।
सदियाँ बीती, साथ तुम्हारे,
जीता आया देखा तुमने
हर विरोध में राह ढूँढ,
अवरोध हटाया,
तुमने चाहा पथ को रूँधू,
हमने यात्राएँ पूरी कीं।
भूल गयी, जब फसल हमारी खेत खड़ी थी,
तुने ओले बरसाए कुहरा ढाया, पाला मारा,
जब-जब पानी माँगा तुझसे,
तूने अँगूठा दिखलाया।
रात-रात भर, जाग-जाग कर,
बर्फीले वायु-बाणों को सीने झेला,
पानी देकर
पौधे-पौधे पुष्ट किये।
चाहा तुमने हाथ-पाँव गल जायँ हमारे,
लूले होकर आश्रित हम तेरे हो जाएँ
तेरी हर साजिश का उत्तर,
हमने तो मुँहतोड़ दिया,
फिर भी बाज न आयी,

अब तक अपनी सोच न बदली, राह न छोड़ी
अपने मन की कर ले चाहे जो भी तू
हम जीते आये हैं, जीते जाएँगे।
इधर कुछ ज्यादा ही इतराती तुम
बरसाती हो आग, लू ताप
जब हमें जरूरत थी, धूप मिले,
दिवस छोटा कर डाला,
आज हमें है भूख, धूप से जान बचे,
चौदह घंटे लगातार दिनकर की तूने पाली बाँधी।
कण-कण तूने चाहा राख बनाना,
पवन के अग्नि बाण चलाती,
बरसाती गर्दा धूल, खर पतवार पाटती घर दालान,
निशिचर सा मायावी करती युद्ध
हू-हू उपजाती आवाज,
आकृति नहीं दीखती
झंझावात को भेजा तूने हमें डराने।
सूखे पत्ते गर्द धूल, साथ उड़े ले,
बवण्डर आतंकी,
चक्र घूमता आवर्त बना,
जल भँवरी सा हमें पचाले,
चौरस पटके हो जाय अशेष।
झटके, आँधी, तहस-नहस करने को,
सारे मानव के निर्माण
ढा लो जितना चाहो ज़ुल्म
शेष तेरा अस्तित्व रहेगा जब तक

हम भी तेरे साथ जिएँगे।
हमने खाली कर लिया खेत
पूरा कूट-कूट खलिहान, सुरक्षित घर में रखा
कोठिले भर डाले, कब्जे में भूसा रखा
तरसो तुम भटको गली-गली,
हम खुश मड़ई में, मेड़ों पर।
तुमने सोचा,
चिड़ियाँ, पशुओं के जीवन, लयहीन करोगी,
भूखे प्यासे दब जाएँगे दु:ख के पर्वत
रोयेंगे गमगीन बैठ मानव के साथ,
जीव-जीव भूलेंगे गान
गीत और संगीत धरा से उठ जाएगा।
झेल गये हम,
इसी बरसती आग बीच
हम सब झूमेंगे नृत्य करेंगे,
जी लेंगे,
हँस लेंगे, दर्द पी लेंगे।
देखो आँखे खोल, सुन लो कान खोलकर,
बैंड बजेंगे,
दुलहे बन-ठन निकलेंगे, बारात सजाकर
उत्सव होगा मड़ई-मड़ई,
घर-घर होंगे पीले हाथ।
दुलहन सारे अवरोधों को तोड़ेगी
भरे पेट लादे जाएँगे सभी बाराती ठंडा पेय,
अनगिनत मिठाई तुष्ट करेगी,

दाना-रस, बदल-बदल कर रूप छप्पनों भोगों का,
गोरस अमृत, दुनिया भर के साधन सारे,
रिद्धि-सिद्धि खड़ी रहेंगी,
मानव की आज्ञा पालन को।
चाहे जितना ढालो ज़ुल्म, बरसा लो चाहे जितनी आग,
बलिदान चढ़ेंगे
उत्सव होगा साथ-साथ।
अश्रु बहेंगे
हँसी फुहारे भी छूटेंगे
साथ-साथ।
आँगन छूटेगा बाबुल का,
नव-जीवन साथी के गृह
शुभ मुहूर्त आगमन वधू का
साथ-साथ।
तुम ऊपर से नीचे ज्वाला बरसाओगी
फूकेंगे हम आतिश से अपने गगन तुम्हारा
पक्ष-पक्ष अभिवादन हार्दिक देंगे लेंगे
नमन करेंगे हाथ जोड़
चरणों का स्पर्श करेंगे
साथ-साथ।
सजेगा सजन गोठ
खिचड़ी की थाली
साथ-साथ।
सामान लदेंगे
थैलियाँ लेंगी

साथ-साथ।

बहू भी,

चुटकी भर सिन्दूर की कीमत भी

घर जेब भरेंगे, साथ-साथ।

आँगन छूटेगा बाबुल का

नव-जीवन साथी के गृह, शुभ मुहूर्त आगमन बहू का

साथ-साथ।

प्रकृति तुम जब जाओगी

छोड़ हमें रोते रहने को

हँसते रहते ही पाओगी

जब भी मुड़कर देखोगी

हमको देखोगी साथ-साथ।



ढाई आखर

हमने ठाना
अपमानित करने को,
पग-पग मानवता।
समता को आधार बनाया
मानव-मानव बीच
युद्ध का बँटवारे का
नींव प्रेम की डाल
इमारत खड़ी हुई धर्मों की
कर्म को पावन करने
कण-कण अमृत भरने।
पूजा स्थल
भाव संकुचित
विश्व को एक कुटुम्ब सा
अपना केवल अपना माने।
फिर मानव के लहू
ताजे गर्म रक्त से सींचे जाते,
ये कुटुम्ब अपने बस अपने
मरते जाते कटते जाते
भरे नयन जीने के सपने।
आदि सृष्टि से अब तक की
एक-एक कर बीत गयीं ये सदियाँ सारी
ढाई आखर प्रेम का मतलब समझ न पाए।
समझ गये बँटवारे की लाखों दीवारें
युद्ध के कोटि-कोटि कारण हमने ईजाद किये
ऊँच नीच की नाप जोख को अगणित फीते कदम-कदम।
जीवों के जीवन का है कितना अल्प मूल्य

कैसा सोचनीय है दुखद अपव्यय मानव का
आत्म विसर्जन प्राण निछावर करवाते हैं शैतानों सा
बने रहनुमा निर्बल के
नतमस्तक के काटें शीश।
कुछ झटके से कुछ रेत-रेत कर,
हत्या को जायज ठहराएँ
कुछ ताजे कुछ डिब्बे बन्द
सुरक्षित रखे भूख मिटाएँ
बँटवारे की सीमा रेखाएँ हिलने डुलने पर
मानव को वर्दी पहनाएँ
गाजर मूली सा कटवाएँ।
लगी उगलने आग एके सैंतालिस बावन
तोपों के मुँह खुले धधकते गोले बरसें,
करे सुरक्षित कुर्सी गद्दी
लाखों मानव की बलि देकर,
अणु परमाणु रसायन गैसों के गोले
घर बैठे सारी दुनिया की कीमत तोले।
अस्त्र-शस्त्र के बने जखीरे गुप्त वृहद्
दावा सब कुछ स्वाहा करने का बस चन्द मिनट में
विध्वसों का माहिर अपना ज्ञान-बुद्धि-बल
निर्माण नहीं कर सकते किंचित् चींटी का
माटी के पुतले भूले कीमत माटी की
माटी माटी उलझ-उलझ कर गुत्थम गुत्था
गारद करते जाते नित नित माटी को।
न जाने अब तक
नहीं कभी हम जानेंगे
ढाई आखर प्रेम का मतलब
काश हमारा पेट हमारे तन की भूख

हमारे मन मस्तिष्क घेर कर बैठी तृष्णा सारी
हमें तनिक सा फुरसत देती
प्रेम बढ़ाता बैठे प्रेम से
बात प्रेम की सुनते हम
अपने हक पर अपनी हद में रहकर जीते
हो जाते ये अस्त्र शस्त्र सब व्यर्थ धरा पर
जन-जन को जीव-जीव को
अचर-चर, जड़-चेतन को प्रेम बाँधता एक सूत्र में।
बात देव की छोड़
छोड़कर अन्य लोक की
हम इस धरती को ही स्वर्ग बनाते
खुद बन पाते मानव
मानव पूरे मानव
प्रेम हमारी पूजा बनता भगवान हमारा
प्रेम बस प्रेम मात्र
हो जाता आधार हमारे सम्बन्धों का
धरा के घाव सभी भर जाते
कण-कण प्रेम बरसता
रोम-रोम भरता आनन्द
जनमते जीते मरते मुस्काते हँसते
कह पाते कि प्रेम को हमने समझ लिया
हमें और कुछ नहीं चाहिये
प्रेम प्रेम बस प्रेम
हमारा सबका जीवन।
हमने ठाना, कभी नहीं होने पायेगी
अपमानित अब मानवता
ढाई आखर प्रेम का मतलब समझ लिया।



आदमी और हाथी

शिल्प मेले से
हाथी वाले तोरण का एक जोड़ा खरीदा
घटना उल्लेखनीय नहीं
पर हाथी का इतना सुन्दर बन जाना
अति उल्लेखनीय।
बनाने में आदमी अकेला
बन जाने में नियति का सहयोग,
विराट की कृपादृष्टि
बन जाना श्रेष्ठ।
कपड़ा रुई गोल चिपटी काली मोतियों
सुई धागों से बना,
उसके पाँव माथा सूँड़ शरीर पूँछ नाखून आँखें
अलग-अलग तैयार हुए,
जुटे खड़ा हो गया हाथी।
दृष्टि को खोजने पर भी दोष न दिखे
डील-डौल, अंगों का आनुपातिक सामञ्जस्य
सहज समन्वय नेत्र नाखून पूँछ का
आकार प्रकार संतुलित
स्वाभाविक सुन्दर मनमोहक आकर्षक।
मेरे मित्रों का अन्तरंग
परिवार का सदस्य
इतना धुल मिल गया हमसे।
नियमित सफाई, सेवा झाड़पोंछ फिर भी
दिन-दिन पुराना पड़ता जा रहा है मेरा हाथी
मेरी तरह साथ निभाने में सही अर्थों में मेरा अपना
सुख दुख में बराबर का साझीदार

पल-पल का साथी।
अचानक सूचना दी एक मित्र ने
तू तो जानवरों का शौकीन
खासतौर से हाथियों का,
एक दर्शनीय हाथी आकर बँधा शिवाला किले में
महाकुम्भ से लौटे नागाओं का
इतना स्वस्थ इतना सुन्दर
नपे तुले विशाल डील डौल वाला
नहीं मिलेगा देखने को,
ठीक तुम्हारे रॉड वाले हाथी की तरह।
मैं प्रसन्न अति प्रसन्न
गर्व से सीना फूला
मैंने मेले से हाथी वाले तोरण खरीदा
इसने मेरी पहचान बनायी
मुझे हाथीनशीं बना दिया,
मेरा हाथी
असाधारण सचमुच के हाथी का उपमेय बना।
गयी देखने किले में बँधा हाथी
वाराणसी में घाट किनारे
काशी नरेश चेतसिंह का किला
कितना नाम उसका
वैसे कहीं से किला नहीं दिखता
इससे क्या?
सारी दुनियाँ को किला कहने में एंतराज नहीं
मुझे क्यों?
छोटी बड़ी चमकदार इमारतों की
कसी हुई बस्तियों के बीच
किले का पूरा मैदान,

उजाड़ उपेक्षित क्षत-विक्षत
सूखी घासों से पटा,
पुराने बूढ़े-बूढ़े वृक्ष
उबड़-खाबड़ जमीन
जर्जर जहाँ तहाँ भहरायी दीवारें
इसी बीच वह विशाल जानवर।
सचमुच विशाल,
एक साथ पूरा देखने भर को आँखें सक्षम नहीं
अपने स्वामी नागा साधु की तरह
निश्चिन्त खा पीकर गदराया
दोनों मदमाते पर भरपूर शांत।
हाथी की खूब पटती बाबा से,
बाबा जब भी टहलते आते
गजराज स्वागत में हरकत में आ जाता,
हल्की झिड़की देते बाबा
शान्त हो जाता
खाने में मशगूल बाबा को देखते हुए कनखियों से।
दोनों का मन मिलकर एक
परन्तु मन मनुष्य की एकल सम्पदा,
पशुओं के पास मन नहीं
विकास क्रम में हाथी मनुष्य के निकटतम
मन न सही
मन का आभास है उसकी सम्पदा।
बड़ा मजा आया
उसके सामने ईख के खुले गट्ठर
झूठ रहा, खा रहा
रह-रहकर हल्की आवाज कर रहा
उठाता,

सूँड़ से ऊपर उठा झाड़ता
मुँह में डाल देता ढेर सारी गेड़ों से भरी ईख,
बाहर वाले दाँत धूल गर्द खाते रहे,
भीतर वाले ईख के रस से नहाते रहें।
जब इच्छा होती उसकी
थोड़ी सी धूल
सूँड़ से उठा
अपने पीठ पेट पर छिड़क देता
प्रसाधन क्रिया
वृहद् शरीर के अनुरूप
श्री हीन आयतन पर नयनाभिराम
विपुल बल, अत्यन्त निरीह
पराधीन फिर भी प्रचण्ड जन्तु दर्शनीय।
प्रकाण्डत्व, भद्दापन भी
स्नेह उपजा सकता
इसका अद्वितीय दृष्टांत
लगता बहुत बड़ा बच्चा
बड़ा शरारती, बड़ा उदार
बड़ा समझदार, स्वामी नागा का बड़ा संस्करण
बाबा भी
नागाओं के विपरीत
बड़ा शान्त बड़ा मृदुल स्वभाव
निरभिमानी अनुग्र।
मुझे मेरे कपड़े वाले हाथी के लिये
मिल गया एक बराबर का तुलनायोग्य साथी,
अनुरोध किया
राजी हो गये साधु
एक फोटो सेशन कराया

गजराज की
अनेकों भाव भंगिमाएँ
तेवरों, सम्प्रेषणों,
आवेग संवेगों
खड़े होने के विभिन्न विचित्र ढंग
जुदा-जुदा अन्दाज
शृंगार प्रसाधन रत सूँड़
पंखा झलते दो बड़े-बड़े कान,
कैदकर लिये कैमरे में।
अनेक फ्रेम मढ़े हाथियों के बीच
दूर हो गया सूनापन रॉड से लटकते हाथियों का
प्रसन्न वदन,
मेरे ऊपर अपनत्व भरा दृष्टिपात कर रहे
मैं भी अनेक हाथियों से घिरी
भूल गयी हूँ अपना अकेला-सूनापन
मनुष्यों के साथ से बेपरवाह,
निश्चिन्त
मेरे ये मित्र, कर सकती हूँ निःशंक विश्वास
मेरे साथ नहीं कर सकते कभी विश्वासघात
विश्वासघात जानते ही नहीं ये,
आदमियों की तरह।



इन्कलाब जिन्दाबाद

दावा कर रहीं,
अखबार की कतरनें,
ले आएँगी इन्कलाब,
सूखे सरकारी हैण्ड पम्प,
बुझा देंगे बस्तियों की प्यास।
भूख खा रही अतड़ियों को,
अभाव बेच रहे गुर्दों को,
नारे दिखा रहे उनको,
राम राज्य का ख्वाब।
आया था एक दिन सूना,
इन्कलाब,
कागज का कोटा दूना कर गया,
कलम की कीमत दे गया।
सुना पानी भी आया था,
समय का रुख बचाकर,
लॉन नहा गये कूलर पी गये,
पावर वाले पम्प हड़प गये।
सुना खाद्यान्न में हम आत्म निर्भर,
गद्‌दी कुर्सी चख गये,
तराजू कुत्ते खा गये।
सुना ख्वाब सच हो गया
राजा हुआ साहब
राम राज्य गायब
इन्कलाब! जिन्दाबाद!



यतीम

बस्ती का घर हुआ यतीम
शरण माँगने गया अनाथालय के द्वारे।
रोशनदान हुए सब अन्धे,
बिखर गये वातायन सारे,
नींव हिली, हैं बन-बन ढीले,
कैसे कोई इन्हें सम्भाले।
ईंट-ईंट वादी प्रतिवादी,
अर्थहीन है लम्बित वाद,
हाथ नहीं कुछ लगने वाला,
खण्डहर को जीते या हारे।
बस्ती का घर हुआ यतीम
शरण माँगने गया अनाथालय के द्वारे।
घर के सारे कोने मोड़,
खड़े किये थे जितने जोड़,
औलादें आयी उन्मादी,
नीलामी की बजी मुनादी,
आँखें चार नहीं हो पाती,
मन से मन जूझें उत्पाती।
रोते कण-कण सिसकी भर-भर,
साक्षी सूरज चाँद सितारे।
बस्ती का घर हुआ यतीम,
शरण माँगने गया अनाथालय के द्वारे।
भँवर द्वन्द्व के फँसे हुए सब,
तैर-तैर कर थके हुए सब।
डोर प्रेम की तोड़-तोड़ कर
चाहें गम को दूर करें सब

टूटे रिश्ते संवादों के
जन-जन तनहे हैं अनाथ सब
हाड़ माँस की बात व्यर्थ है,
पत्थर ईंट लकड़ी लोहे, श्वास तोड़ते,
खोकर प्यार स्नेह के गारे।
बस्ती का घर हुआ यतीम
शरण माँगने गया अनाथायल के द्वारे।
कल तक जिसकी कीमत थी,
आज हुआ कूड़े का ढेर।
अपनी-अपनी अंधी सोच के ऐंठन में,
दिया निमन्त्रण सर्वनाश को क्या अन्धेर।
घर बेचारे बेघर होकर भटके दर-दर,
भर-भर ढोते स्वार्थ अहं के अंधियारे
उकड़ू बैठी बच्चों को खो,
बेपर्द दर्द नंगी चीत्कारें।
बस्ती का घर हुआ यतीम
शरण माँगने गया अनाथालय के द्वारे
खुद जब अपने नहीं हुए हम
खुद अपनों के नहीं हुए हम
फिर क्यों रोते गली-गली
सुनते रहे अनाथालयों की दुत्कारें
बस्ती का घर हुआ यतीम
शरण माँगने गया अनाथालय के द्वारे।



इन्कलाब आ रहा

हवा गर्म चल रही
उल्टी क्यों बह रही
सुन लो क्या कह रही
सँभल जा सँभल
मुनादी बजा रहा
आ रहा प्रलय का खौलता सा आब
इन्कलाब आ रहा।
बेखौफ गलियाँ
सहती आ रही सदियाँ
हाथ पाँव बाँध
मुक्के लात चले साथ
भूखे तन की आबरु
लुटती रही रुबरु
धरती काँपती है वेग सुन
ठठरियाँ छेड़ती संघर्ष धुन
झुका ले सर तुरत अन्याय
पास तेरे है नहीं कोई जवाब।
इन्कलाब आ रहा।
मेकअप छोड़ सारे,
वेश भगवान को प्यारे
फेक रुप सज्जा,
पहचान अपनी हाड़-मज्जा
आदमी बन जा रे,
आदमी बन जा रे
आदमी की कतार आ रे
प्राण बच जाए तुम्हारे

जाग।
छोड़ झूठे ख्वाब
इन्कलाब आ रहा।
गरजता बढ़ रहा सैलाब,
तीव्र गतिमान झंझावत
गर मुझको बचानी जान,
क्षण को जरा पहचान,
फूँको झूठ के पोथे,
त्यागो स्वार्थ सब थोथे,
युग को सिखाने पाठ,
पल-पल हाथ बाँधे साथ,
अब औकात किसकी,
जो चलाए और आगे,
दरिन्दों का हिसाब,
इन्कलाब आ रहा।



दोस्त के दोष

इतने उद्विग्न
इतने उग्र
क्या खो गया?
खोया नहीं
खोजता हूँ दोस्त,
दोष रहित,
परेशान लबेजान,
अनजान, मिलेगा या नहीं।
बड़े सरल स्वच्छ विमल,
गंगा जल से निर्मल
कहाँ भटक रहे आप?
हजारों किस्म की,
मादकता के
कृत्रिम उत्ताप से सुलगते,
उत्तेजित तथा कथित साफ सुथरे सभ्य लोगों के बीच
नहीं पा सकते आप।
कुछ आशा की जा सकती,
तो उन लोगों के बीच
जो सीधे-सादे सरल
अकृत्रिम जीवन जीने वाले
खुरदुरे कपड़े और रहन-सहन से,
असभ्य से लगने वाले पूरे भारतीय,
मिलावटी नहीं।
जिनके लिये मानव-मानव

एक वृहद् परिवार के सदस्य
सभी स्वजन जैसे, असहाय, निरुपाय लोगों के
दुख बाँटने में अपना सौभाग्य मानने वाले।
सारी विपत्तियों वेदनाओं को झेलते हुए भी,
जिनके मन म्लान नहीं,
उनके मन कितनी श्रद्धा,
कितने सच्चे हृदय मानते,
जो नहीं रूचा
बिना शिकायत हुए अलग।
स्थापित करना पड़ेगा
सभ्यता भद्रता के बीच
सरलता की प्रतिष्ठा
उसके बिना नहीं हो सकती
सभ्यता सुन्दर और सम्पूर्ण।
दोषहीन दोस्त की खोज
दिवास्वप्न,
न खोजो व्यर्थ
खो सकता जिन्दगी का अर्थ
जीवन सरलता से जीएँ
हमें दुश्मन नहीं दोस्त ही मिलेंगे।
दोस्त खोजे नहीं जाते
बन जाते
दोस्तों में दोष नहीं होते
दोष गुण में कोई फर्क नहीं होता
यदि फर्क दिखायी पड़े

तो दोस्ती नहीं हो सकती
बस हो सकता दोस्ती का भ्रम।
दोस्त को दोस्त के दोष भी गुण दिखायी देते,
गुण ही दृष्टिगत होते,
दोष देखने की दृष्टि समाप्त हो जाती
जब दोस्ती हो जाती।
खोजे नहीं जाते
बन जाते है दोस्त
दिखायी नहीं पड़ते
दोस्त के दोष।



ऊपर वाले पात

वृक्ष के ऊपर वाले पात,
इसकी करते साज सँभार
नीचे के पातों से ज्यादा।
दहकता ताप सूरज का,
तीखी बौछारों का संघात,
कोहरों पालों का उत्पात,
सहते मौसमों की मार,
उनकी सौगातों से ज्यादा,
नीचे के पातों से ज्यादा।
गर्द धूल मल ढोयें
ऊपर वाले जागें सतत
सब नीचे वाले सोयें
शेष हँसें मुस्कायें
ये बेचारे रोयें
भुगते पग-पग हार,
पल-पल प्रतिघातों से ज्यादा
नीचे के पातों से ज्यादा।
तूफान के आवर्त के झोंके,
अकाल के अनगिनत धोखे,
आँधियों की कड़ी फटकार
जलवायु के कितने अपकार
सहते आगतों का-
पक्षियों का भार
काँपे झंझावतों से ज्यादा
नीचे के पातों से ज्यादा।
पूछते इंसान से

तुम पड़े हो शान से
सारे अवाम के ऊपर
ढूहे माँस के-
किस ईमान से
सुविधा साधनों का
लिये अम्बार
खुद की औकातों से ज्यादा
नीचे के पातों से ज्यादा।
हमें देखो, जरा सोचो,
ऊपर बैठने का, दायित्व झेलें,
हे धरा के श्रेष्ठतम
तेरी चेतना सोयी
टूटे सारे चिन्तन तार
तेरे कर्म गिरे क्यों नीचे
तेरी ही बातों से ज्यादा
नीचे के पातों से ज्यादा।



लाल घर

प्रा:तकाल अँगुली पकड़े
टहलने जाते हुए, मेरा नन्हा छोटू
रुक गया अचानक।
बाबा! यह घर लाल क्यों?
मैनें अनसुनी की, उसने आवृत्ति
आपको रंगों की जानकारी नहीं है क्या?
मेरी मैम सब जानती हैं,
उन्होंने ही दी है मुझे रंगों की पहचान
बताइये न! यह घर लाल क्यों?
कैसे बताऊँ इतना कड़वा सच
सहन कर पाएगी नन्हीं सी जान।
अपनी अंगुलियों को खींचने का
दिया आदेश
पर बाल हठ कहाँ पराजित होने वाला
मैं ढीला पड़ गया।
बेटा यह थाना है घर नहीं।
बाबा! तभी मैंने नहीं देखा
दादियों, मम्मियों, दीदियों, बुआओं को
आते जाते इस घर से।
लाल होने से घर थाने क्यों बन जाते बाबा!
थानों को बच्चे नहीं होते क्या?
फिर क्या होता यहाँ?
डर गया मैं
भूलकर भी इस रास्ते
नहीं ले आऊँगा इसे।
शुक्र है भगवान का

इसने नहीं सुनी चीत्कारें
मार से उपजी भयावनी आवाजें
धारा प्रवाह गालियों की बौछारें
नोटों की फरफराहट, सिक्कों की ठनक
नहीं देखीं पन्नों पर
सूखी स्याही में दफन
धाराएँ-उपधाराएँ।
पिछड़ी डायरियों की सौदेबाजियाँ
तनख्वाह से बेफिक्र खाकी वर्दियाँ
शुक्र है भगवान का जानता है लाल केवल
नहीं पहचान इसको लाल घर की।



तरफदारी

चुभन जो होती नहीं धरा पर
तड़पती अभिव्यक्ति जग में बाँझ होकर।
नहीं जानकारी किसी बात की,
बुरा नहीं
पर ज्ञात घेरे के बाहर
सब व्यर्थ सोचना घातक।
तरफदारी अपनी हो या अन्य की
अनौचित्यपूर्ण
विपरीत न्याय के
परे सत्य के।
न्याय, सत्य उचित का पक्ष
तरफदारी नहीं होती
होती विशुद्ध तटस्थता।
अपनी खुद की तरफदारी,
जब पहुँचाए चुभन
हो वेदना अनुभूत
अभिव्यक्ति फलवती हो,
अपने विपरीत करेंगे निर्णय
फिर भी आनन्दित होंगे
न्याय किसी को मिले,
उत्सव होगा।
बरसेगी खुशहाली
सुख से रोम-रोम भर जाएगा।
विपदा पग-पग हारी,
तरफदारी भरी विचारी।





कोठियाँ

कारीगरों के हाथ की
खालें चबाकर
खड़े फर्मे में
आकार लेने को
टोकरों में बैठ
चढ़कर जा रहीं
सर पर मजूरों के
सनी गिली कोठियाँ

आवरण चित्र : श्री मदन जी



डॉ. आशा यादव
रीडर – हिन्दी विभाग
वसन्त कन्या महाविद्यालय, कमच्छा, वाराणसी।

डॉ. आशा यादव का जन्म १३ अप्रैल सन् १९६४ में वाराणसी के सुशिक्षित एवं व्यवसायी यादव परिवार में हुआ। पिता श्री रूपनारायण यादव की छंत्रछाया में रहकर डॉ. आशा यादव ने काव्य के मर्म को समझा तथा वात्सल्यमयी माँ श्रीमती प्रभा यादव के अक्षय आशीष से इनका अध्ययन निरन्तर विकासोन्मुख रहा। आपने प्रारम्भिक परीक्षा से अंतिम परीक्षाओं तक प्रथम श्रेणी प्राप्त की। एम.ए. (हिन्दी) करने के पश्चात् आपने ख्यातिलब्ध एवं विद्वान साहित्यकार प्रो. चौथीराम यादव के निर्देशन में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से 'मध्यकालीन भारत की सांस्कृतिक परम्परा और रामचरित मानस' विषय पर पी.एच.डी. की उपाधि प्राप्त की। सम्प्रति आप वसंत कन्या महाविद्यालय, कमच्छा, वाराणसी में कार्यरत हैं।

राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय शोध-पत्रों में आपके शोध-पत्र प्रकाशित हुए हैं। मानव संसाधन विकास मन्त्रालय के संस्कृति विभाग द्वारा आयोजित 'तेल बचाओ दिवस' पर स्लोगन लेखन में आपको कांस्य पदक प्राप्त हुआ। आकाशवाणी से विविध विषयों पर परिचर्चा, वार्ता एवं आलेख प्रसारित हुए हैं।

आपने महाविद्यालय की वार्षिक पत्रिका वसंत श्री का सम्पादन करने के साथ ही 'प्रसाद महादेवी संदर्भ और दृष्टि' तथा पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी की रचना प्रक्रिया का भी सहसंपादन किया।

अनेक साहित्यिक गतिविधियों में सहभागिता के साथ काव्य लेखन, संस्मरण लेखन तथा अभिनय में आपकी विशेष रुचि है।

आगामी प्रकाशन- रामचरित मानस में लोक संस्कृति।